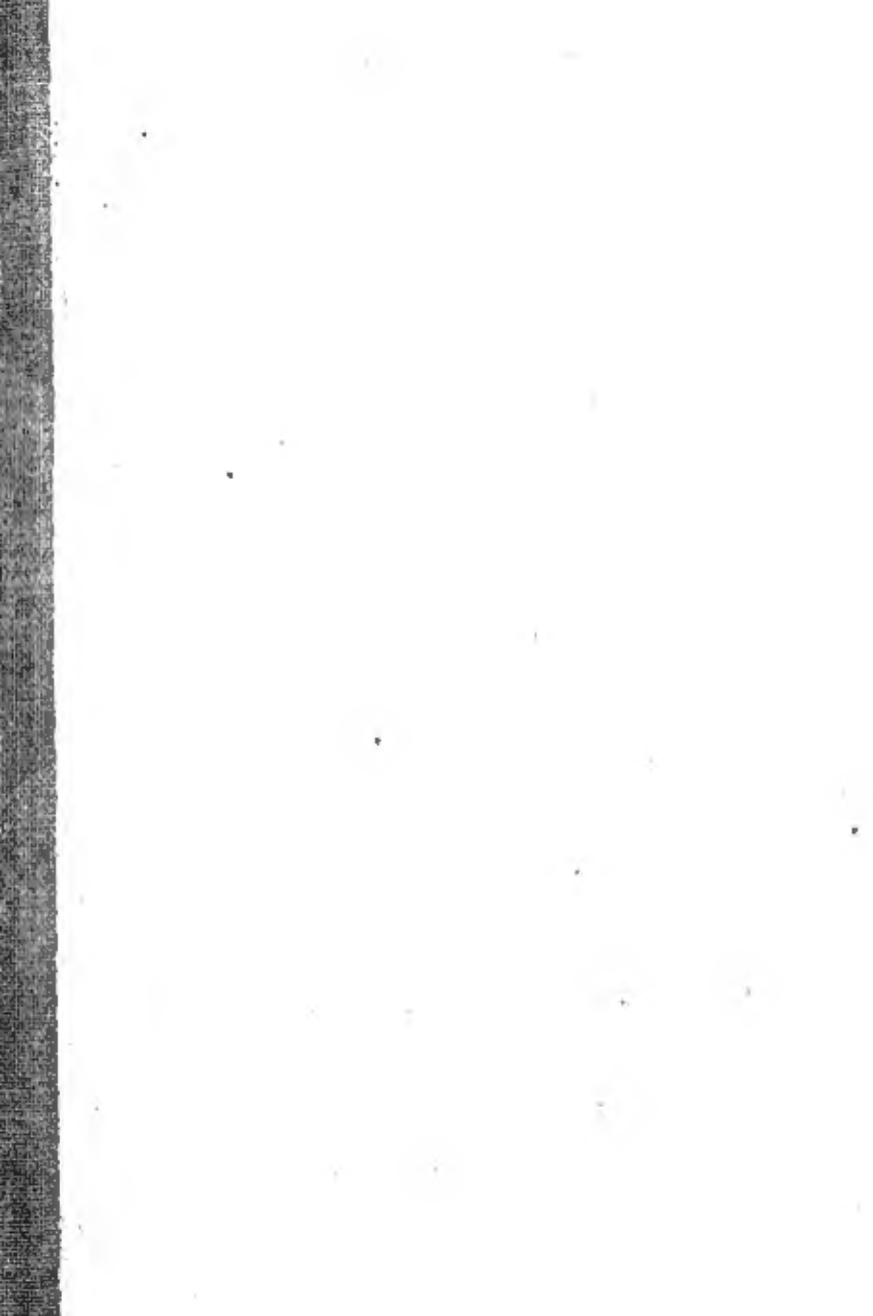


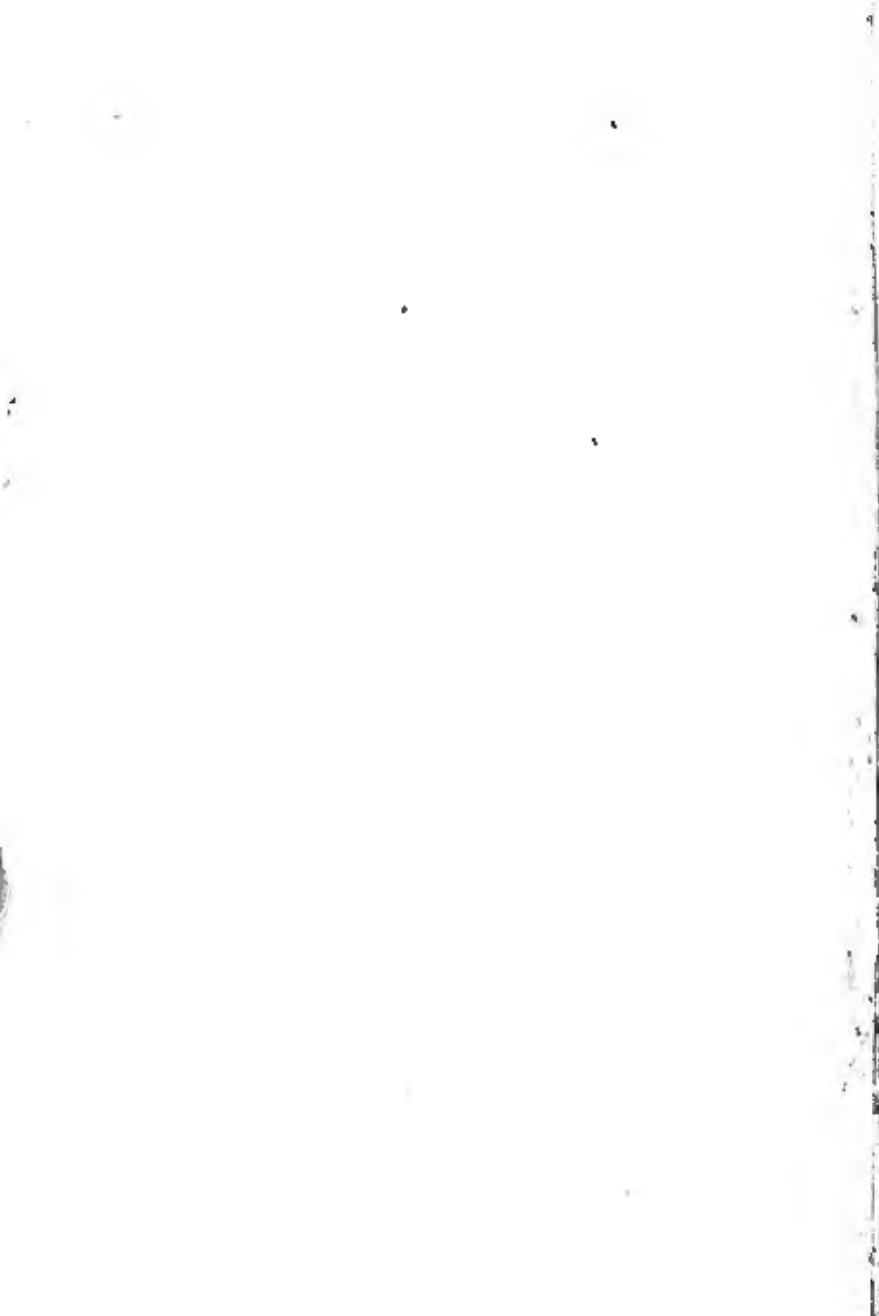
GOVERNMENT OF INDIA  
ARCHAEOLOGICAL SURVEY OF INDIA  
CENTRAL  
ARCHAEOLOGICAL  
LIBRARY

ACCESSION NO. 9594

CALL No. 891. 431

Dui





# मध्यकालीन धर्म-साधना



जगदीश प्रसाद द्विवेदी  
Dwivedi

9594

Dwivedi

891.431  
Dwivedi

Ref 294.55  
Dwivedi

साहित्य भवन लिमिटेड  
इलाहाबाद

प्रकाशक  
साहित्य भवन लिमिटेड,  
इलाहाबाद

CENTRAL ARCHAEOLOGICAL  
LIBRARY, NEW DELHI.  
No. 9594  
Date 4-11-57  
Call No. 891.431  
Doni

प्रथम संस्करण : १९५२

मूल्य ३)

~~CENTRAL ARCHAEOLOGICAL~~

~~LIBRARY, NEW DELHI.~~

~~No. 9594~~

~~Date 4-11-57~~

~~Call No. 891.431~~

मुद्रक

राजेश्वरदत्त घाजपेयी,  
हिन्दी साहित्य प्रेस,  
इलाहाबाद

## निवेदन

‘मध्यकालीन धर्म-साधना’ यद्यपि भिन्न-भिन्न अवसर पर लिखे गए निबंधों का संग्रह ही है तथापि प्रयत्न किया गया है कि ये लेख परस्पर-विच्छिन्न और असंबद्ध न रहें और पाठकों को मध्यकालीन धर्म-साधनाओं का संक्षिप्त और धारावाहिक परिचय प्राप्त हो जाय। इसीलिये कई लेखों में परिवर्तन कर दिये गये हैं और कईको एकदम नये सिरे से लिखा गया है। दो प्रकार के साहित्य से इन धर्म-साधनाओं का परिचय संग्रह किया गया है—(१) विभिन्न संप्रदाय के साधना-विषयक और सिद्धान्त-विषयक ग्रन्थ और (२) साधारण काव्य-साहित्य। इन दो मूलों के उपयोग के कारण इस पुस्तक में आलोचित अधिकांश धर्म-साधनाएँ शास्त्रीय रूप में ही आई हैं। जिन संप्रदायों के कोई धर्म-ग्रन्थ प्राप्त नहीं है या जो साधारण काव्य साहित्य में नहीं आ सकी है वे छूट गई हैं। लोकधर्म की चर्चा इस पुस्तक में यत्रतत्र आ अवश्य गई है परन्तु वह इस पुस्तक का प्रधान प्रतिपाद नहीं है।

मेरा विश्वास है कि जनपदों में प्रचलित लोकधर्म की अनेक पूजा-पद्धतियाँ, देवता-मंडलियाँ और धार्मिक विश्वासों की परंपरा दीर्घ-काल से चलती आ रही हैं। शास्त्रीय धर्म-साधना के साहित्य से इनका घनिष्ठ संबंध होना चाहिए। कहीं-कहीं पुस्तक में इस प्रकार के संकेत दिए गए हैं परन्तु यह विषय बहुत महत्त्वपूर्ण है और इसके लिये अधिक गंभीरतापूर्वक विचार करके स्वतंत्र पुस्तक लिखने की आवश्यकता है।

हमारे देश की धर्म-साधना का इतिहास बहुत विपुल है। विभिन्न युग की सामाजिक स्थितियों से भी इसका संबंध भी है। भिन्न-भिन्न समयों में बाहर से आने वाली मानव-मंडलियों के संपर्क से इसमें नये-नये उपादान भी मिलते रहे हैं। धर्म-साधना की चर्चा करते समय इन सब

बातों को चर्चा आवश्यक हो जाती है। इस पुस्तक में बहुत थोड़ी बातों को चर्चा हो सकी है। फिर भी प्रयत्न किया गया है कि उत्तर भारत की प्रधान-अधान धर्म-साधनाएँ यथासंभव विवेचित हो जायँ और उनको सामाजिक पृष्ठभूमि का भी सामान्य परिचय मिल जाय।

विषय की विशालता और गहनता के विषय में दो राय नहीं हो सकती और इस छोटी सी पुस्तक में उनका बहुत सामान्य परिचय दिया जा सकता है, यह भी असंदिग्ध ही है। मुझे कुछ और अवकाश मिलता तो इसका किश्चिन्त मार्जन कर सकता, परन्तु अभी तो जितना बन पड़ा उतना ही पाठकों की सेवा में उपस्थित कर रहा हूँ। सहृदय पाठक इसके दोषों और त्रुटियों के लिये क्षमा करेंगे, यह भरोसा मेरे मन में है। इसी आशा से इसे प्रकाशित करने का साहस कर रहा हूँ।

काशी

हजारी प्रसाद द्विवेदी

## विषय-सूची

१. मध्ययुग या मध्यकाल	१—६
२. धर्म-साधना का साहित्य	७—१६
३. वेद-विरोधी स्वर	१७—२०
४. पूर्व मध्ययुग की विविध साधनाएँ	२१—२४
५. तंत्र प्रमाण और पंचदेवीपासना	२६—२६
६. पांचरात्र और वैष्णव मत	३०—३४
७. पाशुपत मत और शैवागम	३६—४०
८. कापालिक मत	४१—४३
९. जैन मरमो	४४—४०
१०. धर्मशास्त्र और धर्म-साधना	४१—४४
११. वैदिक देवतावाद से इस साधना का अन्तर	४५—४६
१२. योग-साधना की परम्परा	६०—६६
१३. सहज और नाथ सिद्ध	७०—७४
१४. धर्म और निरंजन मत	७६—८१
१५. कबीर मत में धर्म देवता का अवशेष	८२—८५
१६. सन्त-साहित्य की सामाजिक पृष्ठभूमि	८६—८६
१७. सामाजिक अवस्था का महत्त्व	८७—८८
१८. जातिभेद की कठोरता और उसकी प्रतिक्रिया	८९—१०२
१९. स्पृश्यास्पृश्य-विचार	१०३—१०४
२०. अन्तरजातीय विवाह	१०५—१०७
२१. वर्तमान जन-समूह	१०८—११२
२२. अवतारवाद	११३—११७
२३. श्रीकृष्ण की प्रधानता	११८—१२०

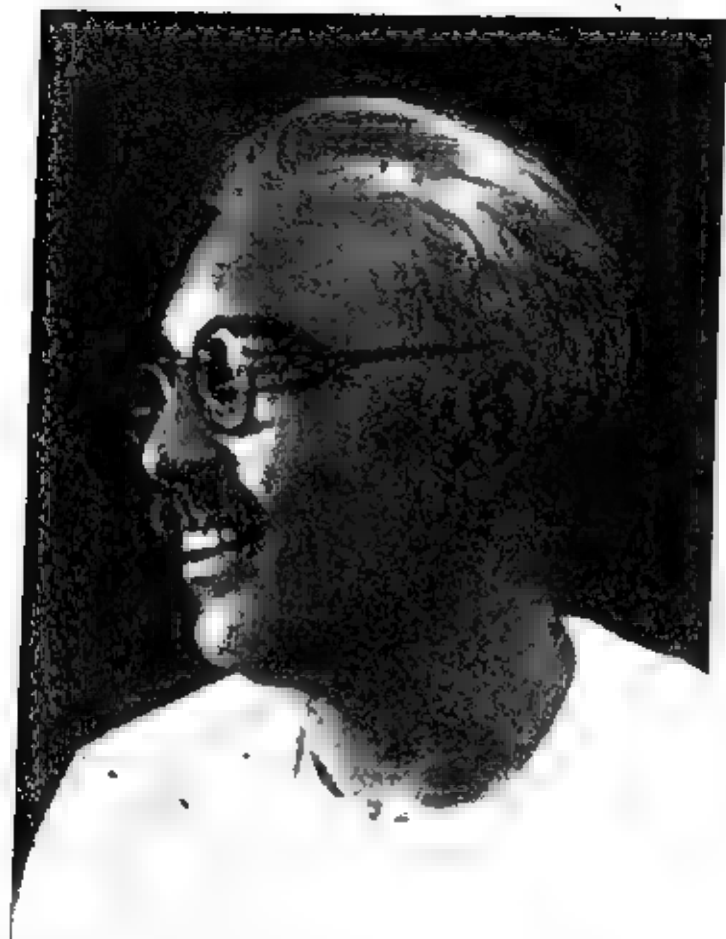


२४. गोपियाँ और श्री राधा	१२१—१२४
२५. साहित्य के माध्यम से धार्मिक संबंध	१२५—१३१
२६. लीला और भक्ति	१३२—१३५
२७. लीला का रहस्य	१३६—१४३
२८. राधिका का स्वरूप	१४४—१४५
२९. गोतगोविंद की विरहिणी राधा	१४६—१४७
३०. सूरदास की राधिका	१४८—१७१
३१. दसवीं शताब्दी से समाज में विभेद सृष्टि का आरंभ	१७६—१८३
३२. शैव-साधना के पीछे काम करनेवाली राजशक्तियाँ	१८४—१८८
३३. गुणमय रूप की उपासना	१८९—१९६
३४. वैष्णव कवि की रूपोपासना	१९७—२००
३५. श्रद्धा का रूप	२०१—२०४
३६. सुकी साधकों की मधुर-साधना	२०५—२१०
३७. मधुररस की साधना	२११—२१७

परिशिष्ट

२१८—२३८





डा० हवार्थ प्रसाद द्विवेदी

## १. मध्ययुग या मध्यकाल

‘मध्ययुग’ या ‘मध्यकाल’ शब्द भारतीय भाषाओं में नया ही है। इस देश के प्राचीन साहित्य में इस प्रकार के किसी शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। बहुत प्राचीनकाल से भारतवर्ष में कृत, त्रेता, द्वापर और कलि नाम के चार युगों की चर्चा मिलती है। ब्राह्मण और उपनिषद् ग्रंथों में भी इन शब्दों का प्रयोग मिल जाता है। धार्मिक मनोवृत्ति की प्रबलता या क्षीयता ही इस प्रकार के युग विभाजन के विश्वास का आधार है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि कृत या सत्ययुग में धर्म की पूर्णस्थिति थी। त्रेता में तीन चौथाई रह गई और द्वापर में आधी। कलिकाल में धर्म का प्रभाव और भी क्षीण हुआ और वह एक ही चरम पर खड़ा रह गया। अनेक विद्वानों ने महाभारत और पुराणों के अध्ययन से यह निर्याय करने का प्रयत्न किया है कि कलिकाल का आरंभ किस समय से हुआ या। हिंदू परम्परा के अनुसार कलिकाल राजा परीक्षित के राज्यकाल में आरंभ हुआ या। यद्यपि हिंदू परम्परा इस काल को पाँच हजार वर्षों से भी अधिक पूर्व से आरंभ होना बताती आ रही है तथापि नई दृष्टि के परिणतों ने आर्य राजाओं की वंशावली के आधार पर सन् ईस्वी के एक सहस्राब्दक पूर्व से इस काल का आरंभ माना है। साधारणतः इस काल के बाद राजाओं का उल्लेख पुराणों में भविष्यकालिक कथा के प्रयोग द्वारा किया गया है। यह माना जाता है कि कलियुग में मनुष्यों की प्रवृत्ति पाप कर्मों की ओर हो जाती है और उनका आयुचक्र क्षीण हो जाता है और ज्यों-ज्यों कलियुग आगे बढ़ता जाता है त्यों-त्यों मनुष्यों की पापाभिमुख प्रवृत्ति भी बढ़ती जाती है। यद्यपि कलिकाल के दोष अनेक हैं फिर भी उसमें एक बड़ा भारी गुण भी है। अन्यान्य युगों में मानस पाप का भी कल मिलता है किन्तु कलि-

युग में मानस पाप का फल तो मिलता ही नहीं ऊपर से मानस पुण्य का फल प्रभुर-भावा में मिलता है। अनजान में भी यदि भगवान का नाम ले लिया जाय तो मुक्ति हो जाती है। अजामिल, गणिका आदि इस प्रकार तर गये थे। भाव से हो, कुभाव से हो, क्रोध से हो, घृणा से हो, उत्साह से हो, आलस्य से हो जैसे-तैसे भी भगवान का नाम ले लेने से इस युग में मंगल ही होता है।

लेकिन इस विश्वास के अनुसार कलियुग अंतमि युग है। आजकल के शिक्षित लोग जब मध्ययुग वा मध्यकाल शब्द का प्रयोग करते हैं तो उनके कहने का अभिप्राय भारतीय परम्परा के युग विभाग के अनुसार बीच में पड़ने वाले द्वारपर या त्रेता युग नहीं होता। वस्तुतः वह शब्द अंग्रेजी के 'मिडल एज' के अनुकरण पर बना लिया गया है। यूरोपीय इतिहास में रोमन साम्राज्य के पतन के बाद से लेकर आधुनिक वैज्ञानिक अभ्युदय के पूर्व तक के काल को मध्ययुग वा मध्यकाल कहा जाता है। उसीचली शताब्दी के पश्चिमीय विचारकों ने साधारणतः सन् ४७६ ईस्वी से लेकर १५५३ ईस्वी तक के काल को मध्ययुग कहा है। हाल की जानकारियों से वह मालूम हुआ है कि इस प्रकार के नामकरण का कोई विशेष उद्देश्य योग्य कारण नहीं था। असल बात यह है कि मध्ययुग शब्द का प्रयोग काल के अर्थ में उतना नहीं होता जितना एक खास प्रकार की पतनोन्मुख और जवदी हुई मनोवृत्ति के अर्थ में होता है। मध्ययुग का मनुष्य धीरे-धीरे विशाल और असीम ज्ञान के प्रति जिज्ञासा का भाव छोड़ता जाता है तथा धार्मिक आचारों और स्वतः प्रमाण माने जाने वाले आस-पासों का अनुयायी होता जाता है। साधारणतः इन्हींकी बाल की लाल निकालने वाली व्याख्याओं पर अपनी समस्त बुद्धि-सम्पत्ति खर्च कर देता है। यूरोपीय इतिहास के इसी युग में वह शास्त्रार्थ प्रबल रूप धारण करता है कि खई की नोक पर कितने करिश्ते लड़े हो सकते हैं।

इस काल की साधना का वैशिष्ट्य

प्रत्येक युग के साधक भगवान् के दो रूपों का अनुभव करते रहे हैं एक तो उनका निर्गुण और निविशेष रूप है जो ज्ञान का विषय है। मनुष्य उसको

ठीक-ठीक अनुभव नहीं कर सकता क्योंकि इस क्रिया के जितने भी साधन हैं उनके पहुँच की सीमा निश्चित है जो समस्त सीमाओं से परे है वह केवल अनुमान और तर्क का विषय हो सकता है। यद्यपि इसमें संदेह ही है कि बौद्धिक विवेचन के द्वारा उसका कितना अंश सचमुच ही स्पष्ट होता है। प्रत्येक युग के और प्रत्येक देश के साधक भगवान् के इस निस्सीम और अचिन्त्य-गुण-प्रकाश रूप की बात जानता है। कैसे जानता है, यह बताना बड़ा कठिन है क्योंकि जो असीम और अचिन्त्य है उसको अनुभव करने के लिए कुछ इसी प्रकार के साधन की आवश्यकता है। मनुष्य-जीवात्मा में कुछ इसी प्रकार के धर्म विद्यमान है। वस्तुतः जब भक्त भगवान् के असीम-अचिन्त्य-गुण-प्रकाश रूप की बात करता है तो वह ज्ञानेन्द्रियों के अनुभव की बात नहीं करता, मन द्वारा चितित वस्तु की बात नहीं कहता और बुद्धि द्वारा विवेचित पदार्थ की बात नहीं करता। वह इन सब से भिन्न और सबसे अलग किसी ऐसे तत्त्व की बात कहता है जिसे उसकी अंतरात्मा अनुभव करती है। वह सत्य है क्योंकि उसे भक्त सचमुच ही अनुभव करता है लेकिन वह फिर भी प्राप्य नहीं है। न तो वह मन-बुद्धि द्वारा ग्रहणीय है और न वाणी द्वारा प्रकाश्य जब कभी वह भक्त के हृदय में प्रकट होता है तभी भक्त के हृदय की समस्त सीमाओं में बँधकर सगुण निर्विशेष रूप में ही व्यक्त होता है, यही भक्त का भाव-गुहीत रूप है।

इस प्रकार भगवान् के दो रूप हुए, एक तो वह जिसकी हम कल्पना नहीं कर सकते, व्याख्या नहीं कर सकते, विवेचना नहीं कर सकते। दूसरा वह जो भक्त के चित्त में भाव रूप से प्रकट होता है और उसके समस्त मनोविकारों के बंधन में बँधा रहता है, व्यापुनिक लेखक इस मनोवृत्ति के आधार पर ही इस युग-सीमा का निर्धारण करना चाहते हैं। जब वह कहते हैं कि पाँचवीं से सोलहवीं शताब्दी तक के काल को मध्ययुग कहने का कोई विशेष कारण नहीं है तो असल में वे यह बताना चाहते हैं कि इस काल में सर्वत्र यह पतनोन्मुख और जड़दी हुई प्रवृत्ति नहीं पाई जाती। फिर भी मध्ययुग का सीधा अर्थ काल ही हो सकता है, और इसीलिए पाँचवीं से सोलहवीं तक के समय को मध्ययुग कहना बहुत कुछ रुढ़ हो गया है। भारतीय इतिहास के लेखकों में

से किसी किसी ने इस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है और किसी-किसी ने मनोवृत्तिपरक अर्थ लेकर इस काल को अठारहवीं शताब्दी के अंत तक बसीटा है क्योंकि भारतवर्ष में आधुनिक मनोवृत्ति का जन्म अठारहवीं शताब्दी के बाद ही होता है। इस अर्थ में प्रयोग करने वाले विद्वानों की कठिनाई यह है कि जिस प्रकार आधुनिक मनोवृत्ति के जन्म का निश्चित समय मालूम है उसी प्रकार मध्ययुगीन मनोवृत्ति के जन्म का भारतीय काल निश्चित रूप से नहीं बताया जा सकता।

इसमें सन्देह नहीं कि यूरोप के देशों की तरह इस देश में भी मध्यकाल में एक जवदी हुई मनोवृत्ति का राज्य रहा है। काव्य, नाटक, ज्योतिष, आयुर्वेद, संगीत, मूर्ति आदि जिस क्षेत्र में भी दृष्टि जाती है सर्वत्र एक प्रकार की अर्धगति का ही आभास मिलता है। इस सार्वत्रिक अर्धगति का कारण इस देश की राजनीतिक स्थिति थी। कारण जो भी हो, मध्ययुग हास का ही युग है। इसमें केवल एक बात में भारतवर्ष पीछे नहीं हटा। वह है भगवद्भक्ति का क्षेत्र। उत्तर-मध्य काल में बहुत बड़े-बड़े भक्त इस देश के हर हिस्से में पैदा हुए हैं। इनमें कितने ही बहुत उच्चकोटि के विचारक तत्त्वज्ञानी थे। परन्तु अधिकांश निरक्षर साधकों की ही प्रधानता रही। भारतवर्ष के इन भक्तों ने निश्चित रूप से दिखा दिया है कि साक्षर होने से ही कोई भगवद्भक्ति का अधिकारी नहीं हो जाता और निरक्षर होने मात्र से कोई उस महारस से वंचित भी नहीं हो जाता। भक्त की मनोवृत्ति के अनुसार कभी वह सखा रूप में, कभी प्रिय रूप में, कभी स्वामी रूप में और कभी अन्यान्य रूपों में प्रकट होता है।

मध्ययुग के भक्तों ने इस भाव-गुहीत रूप का बड़ा विशद वर्णन किया है। जो भगवान् अचिन्त्य है उसका कोई नाम रूप नहीं होता। शरीर लोग उसको आत्मा या ब्रह्म जैसे एक ही शब्द से समझा सकते हैं क्योंकि उनके मत से मनुष्य की जीवात्मा परब्रह्म से अभिन्न है। परन्तु ऐसे परमात्मा का नाम भी क्या और रूप भी क्या। कुछ ऐसे ही भाव को बताने के लिए मौजी कबीर ने कहा था—‘उनका नाम कहन को नाही दूजा घोखा होय।’ नाम रूप की अपेक्षा रखता है। जिस वस्तु का रूप नहीं होता उसका नाम भी नहीं

होता । परन्तु मध्ययुग के भक्तों में भगवान् के नाम का माहात्म्य बहुत अधिक है । मध्ययुग की समस्त धर्म साधना को नाम की साधना कहा जा सकता है । चाहे सगुण मार्ग के भक्त हो चाहे निर्गुण मार्ग के, नाम जप के घारे में किसी को कोई संदेह नहीं । इस अपार भवसागर में एक मात्र नाम ही नौका रूप है । यद्यपि ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ भगवान् का वास न हो और मनुष्य का हृदय भी निस्संदेह उसका आवास है । फिर भी जब तक वह नाम और रूप के सांचे में नहीं ढल जाता अर्थात् सगुण और तविशेष रूप में नहीं प्रकट हो जाता तब तक वह ब्राह्म भी नहीं । इसीलिए भक्तों के नाम-स्मरण का स्पष्ट अर्थ है, भगवान् के भावग्रहीत रूप का स्मरण ब्रह्मसंहिता में कहा है कि यद्यपि भगवान् का मुख और प्रकाश अचित्तनीय है और सबके हृदय में रहता हुआ भी वह सब के अगोचर रहता है—कम लोग ही उसके हृदय स्थित रूप को जान पाते हैं—तथापि संत लोग प्रेमाजन से विच्छुरित भक्ति रूप नयनों से सदैव उसका दर्शन करते रहते हैं अर्थात् जो अकम् होने के कारण दृष्टि का अविषय है उसे प्रेम के अंजन से अनुरंजित करके विशिष्ट बनाकर देखा करते हैं :

प्रेमाञ्जनच्छुरित भक्तिबिलोचनेन  
तस्मै सदैव हृदयेऽप्यवलोकयन्ति ।  
यं श्याम सुन्दरमचिन्त्यगुणप्रकाशं  
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

भगवान् का यह प्रेमाञ्जनच्छुरित रूप भक्त की अपनी विशेषता है । यह उसे सिद्धिवादियों से अलग कर देता है, योग के चमत्कारों को ही सब कुछ मानने वालों से पृथक् कर देता है । और शुष्क ज्ञान के कथनी-कथने वालों से भी अलग कर देता है । यह नाम और रूप की उपासना मध्यकालीन भक्तों की अपनी विशेषता है । यह बात बौद्ध और जैन साधकों में नहीं थी, नाथ और निरंजन मत के साधकों में भी नहीं थी और अन्य किसी शुष्क ज्ञानवादी सम्प्रदाय में भी नहीं थी । जप की महिमा का बखान इस देश में नया नहीं



है गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने 'यज्ञानां जप यज्ञोऽस्मि', कहकर जप की महिमा बताई है पर साधारणतः जप मंत्र विशेष का हुन्ना करता था। भगवान् के नाम को ही सबसे बड़ा मंत्र मानना और उसीके जप को समस्त सिद्धियों का मूल मानना इस युग की विशेषता है, और इस विशेषता ने ही भगवान् के भावग्रहीत रूप को इतना महत्व दिया है। भगवान् के सगुण उपासना के मूल में यह भावग्रहीत रूप ही है, अन्तर केवल इतना ही है कि यह भावग्रहीत रूप भगवान् के पूर्व निर्धारित किसी रूप को आभय करके होता है। इस प्रकार यद्यपि सूरदास के कृष्ण और हित हरिश्चंद्र के भावग्रहीत रूप में थोड़ा अंतर हो सकता है, परन्तु है वह एक ही शास्त्र-समर्थित श्रीकृष्ण के मधुर रूप पर आधारित। वस्तुतः निर्गुण कहे जाने वाले रूप में भगवान् की उपासना करने वाला भक्त भी भगवान् के इस भावग्रहात गुण-विशिष्ट रूप का ही अपनता है। फिर भी उसकी विशेषता यह है कि उसका भावग्रहीत रूप किसी पूर्व निर्धारित और शास्त्र-समर्थित आकार को आभय करके नहीं होता।

मध्ययुग में इस भाव ने अनेक विविध रूपों में अपने को प्रकाशित किया है। इसीलिसे इस युग का साहित्य भक्ति के रस से अत्यन्त सरस हो गया है। और भगवान् के भावग्रहीत रूपों के वैचित्र्य के कारण अनेक रूपों में प्रकट हुआ है। इस सरसता और वैचित्र्य के कारण ही इस युग का साहित्य इतना आकर्षक बना है।

## २. धर्म-साधना का साहित्य

यूरोप के इतिहास के जिस काल को मध्ययुग कहा जाता है उसके प्रारंभिक शताब्दों को भारतीय इतिहास का 'स्वर्ण युग' कहा जाता है। यद्यपि यह बात सम्पूर्णरूप से तथ्य के अनुकूल नहीं कही जा सकती तथापि इतना तो सत्य है ही कि भारतीय इतिहास में गुप्त नरपतियों का उत्कर्षकाल बहुत महत्वपूर्ण रहा है। सन् ईस्वी के पहिली शताब्दी से मथुरा के कुषाण सम्राटों के शासन संबंधी चिह्नों का मिलना एकाएक बंद हो जाता है। इसके बाद के दो-तीन सौ वर्षों का काल अब तक भारतीय इतिहास का अंधयुग ही कहा आता रहा है। हाल ही में इस काल के अनेक तथ्यों का पता चला है किन्तु धारावाहिक इतिहास लिखने की सामग्री अब भी पर्याप्त नहीं कही जा सकती। धीरे-धीरे विद्वान अन्वेषक कुछ न कुछ नये तथ्यों का संग्रह करते जा रहे हैं। यह 'अंधकार युग' शब्द भी यूरोपियन पण्डितों के दिमाग की ही उपज है। यदि रामायण और राजपुरुषों का नाम ही इतिहास न समझा जाय तो इस काल को 'अंधकार युग' नहीं कहा जा सकता। धर्म और दर्शन आदि के जो ग्रंथ परवर्ती सैद्धान्तिक हजार वर्षों के इतिहास को प्रभावित करते रहे हैं उनका बीजारोपण इसी काल में कही हुआ था। मनुस्मृति का नवीन रूप संभवतः इसी काल की देन है। सूर्य-सिद्धान्त का पुराना रूप इसी काल का बना होगा। अरबबोध ने संभवतः इसी काल में अपनी नई काव्यशैली का आरंभ किया और परवर्ती नाटकों, प्रकरणों, और अन्यान्य रूपों को प्रभावित करनेवाला भारतीय नाट्यशास्त्र भी इसी काल में लिखा गया था तथा परवर्ती काव्यों को दूर तक प्रभावित करनेवाला वात्स्यायन का कामसूत्र इसी काल में संपादित हुआ था। हम आगे चलकर देखेंगे कि दर्शन और धर्म-साधना के क्षेत्र में अनेक महत्वपूर्ण ग्रंथों और सम्प्रदायों की स्थापना इसी काल में हुई।

इस प्रकार परवर्ती भारतवर्ष को जो रूप प्राप्त हुआ वह अधिकांश में इसी काल की है।

सन् २२० ईस्वी में मगध का प्रसिद्ध पाटलिपुत्र चार सौ वर्षों की गहरी निद्रा के बाद एकाएक जाग उठा। इसी वर्ष चन्द्रगुप्त नामधारी एक साधारण राजकुमार, जिसकी शक्ति लिच्छवियों की राजकन्या से विवाह करने के कारण बहुत बढ़ गई थी, अचानक प्रथम पराक्रम के साथ उठ खड़ा हुआ और उत्तर भारत के विदेशियों को उखाड़ फेंकने में समर्थ हो गया। उसके पुत्र समुद्रगुप्त ने और भी प्रचंड विक्रम का परिचय दिया। अनेक मदगवित सामंती और बलदर्पित शासकों का मान-मर्दन करके उसने उत्तर भारत को निष्कण्टक सा बना दिया। इसका पुत्र द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य पिता के समान ही प्रतापशाली सिद्ध हुआ। इसका सुव्यवस्थित साम्राज्य पूर्व समुद्र से परिचम समुद्र तक फैला हुआ था। इस समय ब्राह्मण धर्म नया तेज और नया जीवन पाकर बड़ा शक्तिशाली हो गया।

वस्तुतः यूरोप के इतिहास में जहाँ से मध्ययुग का आरंभ हुआ या वहाँ भारतीय इतिहास में नहीं उस्ताह और नवीन जोश का उदय हुआ। संस्कृत भाषा ने नई शक्ति प्राप्त की और समूचे देश में एक नये दंग की जातीयता की लहर दौड़ गई। इस काल में राज्यकाल से लेकर साहित्य, धर्म और सामाजिक विधि-व्यवस्था तक में एक विविध प्रकार की क्रांति का पता लगता है। पुराने शासक लोग राजकार्य के लिये जिन शब्दों का व्यवहार करते थे उन्हें छोड़ दिया गया, कुषाण नरपतियों ने जिस गोंधारीली की मूर्तिकला को बहुत सम्मान दिया था वह एकदम उपेक्षित हो गई। वस्तुतः आज के भारतीय धर्म, समाज, आचार-विचार क्रियाकाण्ड सभी विषयों पर इस युग की अमिट छाप है। इस काल को और चाहे जो कहा जाय, पतनोन्मुखी और जवदी हुई मनोवृत्ति का काल नहीं कहा जा सकता। जो पुराण और स्मृतियाँ आजकल निस्संदिग्ध रूप में प्राथमिक मानी जाती हैं और उनका संपादन अंतिम रूप में इस काल में हुआ था; जो काव्य, नाटक, कथा, आख्या-विकाएँ गुप्त काल में रची गईं वे आज भी भारतवर्ष का चित्त मुरच कर रही

हैं। जो शास्त्र उन दिनों प्रतिष्ठित हुए वे सैकड़ों वर्ष बाद आज भी भारतीय मनीषा को प्रेरणा दे रहे हैं। इस काल को भारतीय उन्नति के स्तम्भ हो जाने का काल नहीं कहा जा सकता।

लेकिन विक्रम की छठी शताब्दी के बाद भारतीय धर्मसाधना में एक नई प्रवृत्ति का उदय अवश्य होता है। इस समय से भारतीय धर्म-साधना के क्षेत्र में उस नए प्रभाव का प्रमाण मिलने लगता है जिसे संक्षेप में 'तांत्रिक प्रभाव' कह सकते हैं। केवल ब्राह्मण ही नहीं जैन और बौद्ध सम्प्रदायों में भी यह प्रभाव स्पष्ट रूप से लक्षित होता है। बौद्ध-धर्म का अंतिम रूप तो इस देश में तांत्रिक ही रहा। दसवीं शताब्दी के आसपास आते-आते इस देश की धर्म साधना बिल्कुल नये रूप में प्रकट होती है। निस्संदेह यहाँ से भारतीय मनीषा के उत्तरोत्तर संकोचन का काल आरंभ होता है। यह अवस्था अठारहवीं शताब्दी के अंत तक चलती रही उसके बाद भारतवर्ष फिर नये ढंग से लोचन आरंभ करता है। सब पूछा जाय तो विक्रम की दसवीं शताब्दी के बाद ही भारतीय इतिहास का वह काल आरंभ होता है जिसे संकोचनशील और स्तम्भ मनोवृत्ति का काल कहा जा सकता है। यह सत्य है कि मध्यकाल में कोई भी ऐसी प्रवृत्ति कठिनाई से मिलेगी जिसका बीजारोपण किसी न किसी रूप में पूर्ववर्ती काल में न हो गया हो। परन्तु धर्म-साधना का इतिहास जीवन्त वस्तु है और जब हम किसी प्रवृत्ति को नई कहते हैं तो हमारा मतलब सिर्फ इतना ही होता है कि यह प्रवृत्ति कुछ विशेष ऐतिहासिक और सामाजिक कारणों से अत्यन्त प्रबल होकर प्रकट हुई या।

### एक विशिष्ट प्रवृत्ति

दसवीं शताब्दी के आस-पास एक विशिष्ट मनोवृत्ति का प्राधान्य भारतीय धर्मसाधना के क्षेत्र में स्थापित होता है, यद्यपि यह नयी नहीं है कम से कम विक्रम के छठी शताब्दी से निश्चित रूप से इस प्रवृत्ति के रहने का प्रमाण मिलता है। विरोधी मतों को 'अवैदिक' कहकर हेय सिद्ध करना

इस प्रवृत्ति का प्रधान स्वरूप है। छठीं से लेकर दसवीं शताब्दी तक का भारतीय साहित्य बहुत विशाल है, तो भी धर्म-साधना के इतिहास की दृष्टि से यह पर्याप्त नहीं कहा जा सकता। अधिकांश में हमें साम्प्रदायिक ग्रंथों पर निर्भर करना पड़ता है। यह उल्लेख योग्य है कि सभी धार्मिक सम्प्रदाय अपने ग्रंथ नहीं छोड़ गए हैं। कुछ ने तो शायद ग्रंथ लिखा ही नहीं और कुछ ने अगर लिखा भी तो वह प्राप्त नहीं हो सका। पुरानी पुस्तकों में इन सम्प्रदायों का कुछ कुछ उल्लेख मिल जाता है। पर इन उल्लेखों से इनका कुछ विशेष परिचय नहीं मिलता। बौद्ध सम्प्रदायों के विषय में ब्राह्मण ग्रंथों से जो कुछ पता चलता है, वह केवल अपूर्ण ही नहीं, भ्रामक भी है। सौभाग्यवश बौद्धों से एक बहुत बड़े सम्प्रदाय स्वयंविवाद का पूरा साक्ष्य — जो लगभग तीन महाभारत के बराबर है — प्राप्त हो गया है। अन्योन्य सम्प्रदायों के ग्रंथ भी थोड़े-बहुत मिल गए हैं और चीनी तथा तिब्बती भाषा में अनेक ग्रंथ अनूदित अवस्था में सुरक्षित हैं। विद्वान लोग नये सिरे से इन ग्रंथों को धीरे-धीरे प्रकाश में लाने का प्रयत्न करते हैं, ब्राह्मण ग्रंथों में उच्छेद, विनाश या अभिप्रायवाद को ही मुख्य बौद्ध सिद्धान्त मानकर लपटझन किया गया है। यदि बौद्ध ग्रंथों का अन्य देशों से उद्धार न हो सकता तो हमें बौद्ध दर्शन की महिमा का कुछ भी पता न चल पाता। 'सर्वदर्शन संग्रह' में वैभाषिक-सम्प्रदाय के बौद्धों के नामकरण का रहस्य यह बताया गया है कि ये लोग विभाषा मानी गहरङ्ग भाषा के बोलने वाले यह मे-खिर-पैर की हॉकने वाले बकवादी हैं। लेकिन असली रहस्य यह नहीं है। भला कोई सम्प्रदाय अपने को बकवादी क्यों कहेगा? असल में विभाषा शब्द का अर्थ है विशिष्ट भाष्य। यह विशिष्ट भाष्य चीनी भाषा में आज भी सुरक्षित है। संस्कृत में इस मत का प्रतिपादक ग्रंथ 'अभिधर्मकोश' उपलब्ध हुआ है। इस ग्रंथ का पहले-पहल चीनी भाषा के टीका के आधार पर फ्रांसीसी में उल्टा किया गया था। इस सामग्री के आधार पर महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने इसके मूल के उद्धार का प्रयत्न किया है और एक संस्कृत टीका भी अपनी ओर से जोड़कर इसे बोधगम्य बना दिया है। यह महत्वपूर्ण ग्रंथ 'अनाप शनाप

बोलने वालों' की कृति तो है ही नहीं, बहुत अधिक युक्तिसंगत और माननीय है।

शंकराचार्य ने शून्यवाद को 'सर्वप्रमाया विप्रति पितृ' कहकर उपेक्षा योग्य ही समझा था। कुमारिल भट्ट जैसे मेधावी आचार्य ने भी बुद्ध की ग्रंथों आदि भली बातों को उसी प्रकार अग्रगण्य बतलाया था जिस प्रकार कुत्ते की खाल में रखा हुआ दूध अमेष्य होकर अनुपयोगी हो जाता है। 'श्वदति निश्चित क्षीरमनुपयोगि' इसी प्रकार के अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। वस्तुतः बड़े-से-बड़े आचार्यों के खण्डनात्मक तर्कों और आक्रमणात्मक लेखों को देखकर भी विरोधी सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के विषय में कोई निश्चित धारणा नहीं बनाई जा सकती। बौद्ध धर्म तो फिर भी जीवित मत है और उसके साहित्य के उपलब्ध हो जाने से इसके विषय में ठीक-ठीक धारणा बना ली जा सकती है। परन्तु ऐसे बहुत-से सम्प्रदाय हैं जिनकी न तो किसी जीवित परंपरा का पता चलता है और न कोई साहित्य ही उपलब्ध हो सकता है। विरोधी मतवालों ने उनका थोड़ा-बहुत विकृत परिचय दिया है परन्तु ऊपर के उदाहरणों को देखकर जान पड़ता है कि हम इन विकृत परिचयों के आधार पर विशेष अग्रसर नहीं हो सकते।

एक ऐसा सम्प्रदाय नील पटों या नीलाम्बरों का था पुरातन प्रबंध संग्रह नामक जैन ग्रन्थ में हम दर्शानियों की चर्चा है। इनकी साधना-पद्धति के विषय में कितना कुछ कहा गया है उससे लगता है कि ये लोग अत्यन्त निचली श्रेणी के भोगपरक धर्म का प्रचार करते थे। खाओ-पिओ और मौज करो, यही उनका आदर्श था। पुरुष और स्त्री के जोड़े गन्ग होकर एक ही नीले वस्त्र में लिपटे रहते थे। ऐसे ही एक जोड़े से राजा भोज की एक कन्या ने धर्म-विषयक प्रश्न किया जिस पर 'दर्शनी' ने उस वामलोचना को उपदेश दिया कि 'खाओ-पिओ और मौज करो' जो बीत गया तो कभी नहीं लौट सकता। अगर तुमने तप किया और कष्ट उठाया तो वह तुम्हारे लिए बिल्कुल बेकार है क्योंकि वह जो गया सो गया। असल बात यह है कि यह शरीर सिर्फ अकृतत्वों का संचालन-मात्र है इसके आगे कुछ भी नहीं है।—

पित्र स्वाद च वामलोचने चदतीतं वरगात्रि तक्ष ते ।

नहि भीक्षु गतं निवर्तते समुदयमाश्रमिन् कलेष्वग्नम् ॥

—पुरातन प्रबंध पृष्ठ १६

राजा भोज को जब यह बात मालूम हुई तो उन्होंने इस सम्प्रदाय का उच्छेद कर दिया । लोज-लोज करके नीलपटों के सभी जोड़े हमेशा के लिये समान कर दिए गए । भारतीय साहित्य में इन नीलपटों की कोई चर्चा नहीं आती । इस विवरण से तो इनके विषय में घुणा ही उत्पन्न होती है । यह श्लोक पुराना है । सर्वदर्शनसमुच्चय की टीका में इसे लोकामत मत के मानने वालों की उक्ति कहा गया है । सौभाग्यवश इस सम्प्रदाय का एक श्रृंखला भी विकरल का सिंहल ( सीलोन ) के निकाय-संग्रह से भी राहुल सांकृत्यायन ने उद्धार किया है । यह कहानी भी राजा भोज के काल के कुछ ही पहले की है । कहा गया है कि राजा मतवलसेन जिनका राज्यकाल ४४६-४६६ ईस्वी है, के समय वज्र पर्यंत-निकाय का एक भिक्षु सिंहल में आश और वीराकुर बिहार में रहने लगा । उसके प्रभाव में आकर राजा ने बजिरिय ( वज्रयान ) मत को स्वीकार किया । इसीसे लंका में रत्नकूट आदि ग्रंथों का प्रचार आरंभ हुआ । इसके बाद के राजा ने यद्यपि बजिरिय के बारे में कुछ कड़ाई दिखाई पर इन सिद्धान्तों के गोप्य रहने के कारण वे बचे हो रहे । राहुलजी का कहना है कि तिब्बत के रंगीन चित्रों में आतिशा ( दीर्घकर भीशान ) आदि भारतीय भिक्षुओं के चीवर के नीचे जो नीले रंग की एक लाकेट जैसी चीज दिखती है उसका कारण निकाय संग्रह में इस प्रकार दिया हुआ है—जिस समय कुमारदास सिंहल में राज कर रहे थे उन्होंने दिनों दक्षिण मयुरा में भीर्ष नामक राजा का राज्य था । उस समय सन्मितीय निकाय का एक दुःशाल भिक्षु नीला वस्त्र धारण करके रात को वेश्या के घर गया । उसके प्रातःकाल लौटने में देर हो गई । जब बिहार के शिष्यों ने उसके वस्त्र का कारण पूछा तो उसने उस नील वस्त्र की बड़ी महिमा बताई । तभी से उसके शिष्य नीलवस्त्र का व्यवहार करने लगे । नीलपटदर्शन में कहा गया है कि वेश्या, चुरा और काम ये तीन ही वास्तव रत्न हैं, बाकी सब कांच के टुकड़े हैं । रसद ही नीलपट दर्शनियों का

जो मत पुरातन प्रबंध में उद्धृत किया गया है वह इसी से मिलता-जुलता है। परन्तु यदि राहुलजी के वक्तव्य को ध्यान से देखा जाय तो मालूम होगा कि इन लोगों का संबंध अज्ञानियों से था। यह ध्यान देने की बात है कि सम्मितीय निकाय के जिन भिक्षुओं की ऊपर चर्चा आई है उनका महायान मत की स्थापना में बड़ा हाथ रहा है (गंगा पुरातत्त्वांक)। यह नीलपट सम्प्रदाय यदि अज्ञान से संबंधित था तो निश्चय ही बड़ा शक्तिशाली था और उसका साहित्य एकदम खोया हुआ नहीं कहा जा सकता। स्पष्ट ही यदि जैन प्रबंध का विवरण ही हमारे सामने होता तो इस मत के विषय में बहुत ज्ञात भारणा बनी रहती। ऐसे अनेक सम्प्रदाय हैं जो गलत ढंग से उपस्थापित हैं। कितनों ही का तो नाम भी नहीं बचा होगा।

कितने ही सम्प्रदाय ऐसे हैं जिनका साहित्य तो उपलब्ध नहीं है, पर परंपरा अभी बची हुई है। नाथमार्ग के बारह वंशों में से प्रायः सभी जीवित हैं पर जहाँ तक मालूम है एक-दो को छोड़कर बाकी का कोई साहित्य नहीं बचा है। इन सम्प्रदायों के साधुओं और गृहस्थों में अपने प्रतिष्ठाता के संबंध में कुछ कयाँ बची हुई हैं। किसी-किसी के स्थापित मठ और मंदिर वर्तमान हैं, उनमें कुछ विशेष ढंग के अनुष्ठान होते हैं। इन लोक-कथाओं और अनुष्ठानों के भीतर से इन सम्प्रदायों की विशेषता का कुछ पता चलता है। इतना ही नहीं, कभी-कभी तो अनुष्ठानों और लोक-कथाओं पर से उन पूर्ववर्ती मतों का भी पता चल जाता है जो या तो इन परवर्ती मतों के विरोधी थे या इन्हींमें घुल मिल गए हैं। आगे हम इस प्रकार के कई धर्ममतों का उल्लेख करेंगे। इसीलिए भारतीय धर्म-साधना का अध्ययन बहुत जटिल और उलझता हुआ कार्य है। इसे सुचारु रूप से करने के लिए केवल लिखित साहित्य से काम नहीं चल सकता। लोक-कथा, मूर्ति और मंदिर, साधुओं के विशेष-विशेष सम्प्रदाय उनकी रीति-नीति आचार-विचार पूजा-अनुष्ठान आदि की जानकारी परम आवश्यक है। परन्तु इस दृष्टि से बहुत कम काम हुआ है। जो कुछ हुआ है वह अधिकतर विदेशी विद्वानों के परिश्रम का फल है



इसके लिये हमें उनका कृतज्ञ होना चाहिए। यह ठीक है कि उनका दृष्टिकोण दूसरा है परन्तु जो कुछ भी उन्होंने किया है वह हमारे काम तो आता ही है।

### आस्तिक और नास्तिक

इस काल के धर्म को दो मोटे विभागों में बाँट लिया जा सकता है, आस्तिक और नास्तिक। आस्तिक भी दो भेदियों के हैं। एक वे जो वेद को प्रमाण मानते हैं दूसरे वे जो वेद से अपने मत के समर्थित या असमर्थित होने की परवा नहीं करते। वे नास्तिक तो नहीं हैं पर वेद-विरोधी अवश्य हैं। मनु ने वेदनिन्दक को ही नास्तिक कहा है परन्तु, जैसा कि कुल्लुक भट्ट ने मनु की टीका में (४।१६३) इस शब्द की व्याख्या की है, नास्तिक शब्द का प्रचलित अर्थ था परलोक में विश्वास न करनेवाला। उन दिनों अपने विरोधी मतों को अवैदिक और नास्तिक कहकर लोकचक्षु में होन सिद्ध करने की चेष्टा की जाती थी। ७ वीं शताब्दी के बाद यह प्रवृत्ति उत्तरोत्तर प्रबल होती गई। श्रीकृष्ण धूर्जटि मिश्र ने सिद्धांत सन्दोष में ३ नास्तिक सम्प्रदायों के नाम गिनाए हैं। (१) चार्वाक (२-५) चार बौद्धमत अर्थात् माध्यमिक, योगाचार, सौमनास्तिक और वैभाषिक तथा (६) दिगंबर (जैन)। परन्तु भिन्न-भिन्न मत के ग्रंथों की जाँच की जाए तो नास्तिकों की संख्या और अधिक होगी। जैमिनि विरचित भीमांश और कपिल सौख्य भी इस अवधार के शिकार हैं। इस प्रकार वेद माननेवाले निरीश्वर सम्प्रदाय भी हैं।

वेद को अंतिम प्रमाण माननेवाले धर्ममतों और दार्शनिक सम्प्रदायों की संख्या एक-दो नहीं है। उत्तर मध्यकाल में वेदान्त के अनेक परस्पर-विरोधी सम्प्रदाय हुए हैं। सब अपने को भूतिसम्मत मानते हैं। अद्वैतवाद, द्वैतवाद विशिष्टाद्वैतवाद, शुद्धाद्वैत, अचिन्त्य-भेदभेद आदि अनेक परस्पर-विरोधी मत ऐसे हैं जो एक ही भूति को अपना आधार मानते हैं। कभी-कभी तो एक ही वाक्य पर से ये लोग परस्पर-विकट अर्थों का समर्थन करते हैं। आगे चलकर इन विरोधों के परिहार की भी चेष्टाएँ हुई हैं। इसी प्रकार शैव, शाक्त, पाशुपत, गणपत्य, सौर आदि अनेक धार्मिक सम्प्रदाय अपने-अपने मतों को

वेद-प्रतिपादित बतलाते हैं। प्रायः ही विरोधी मतों को वेद विरोधी कहकर हीन सिद्ध करने की प्रवृत्ति है। कूर्म पुराण में कापाल, लाकुल, वाम, भैरव, पूर्व, पश्चिम, पांचरात्र, पाशुपत आदि को अवैदिक बताया गया है। एक मजेदार बात यह है कि प्रायः ही शिवजी या स्वयं विष्णु भगवान के मुख से कहलवाया गया है कि उन्होंने असुरों को पथभ्रांत बनाने के लिए मोहशास्त्रों की रचना की थी। कूर्म पुराण के १६ वें अध्याय में कहा गया है कि शिवजी की प्रेरणा से विष्णु ने ही कापाल लाकुल, वाम, भैरव आदि हजारों मोहशास्त्रों की रचना की थी।

चकार मोहशास्त्राणि केशवोऽपि शिवेरितः।

कापालं लाकुलं वामं भैरवं पूर्वपश्चिमम्।

पाञ्चरात्रं पाशुपतं तथान्यानि सहस्रशः।

शंकराचार्य ने शारीरक भाष्य में पाशुपतों और माहेश्वरों को वेदवाक्य ही माना था (२।१।१७)। स्वयं शंकराचार्य भी इसी आक्षेप के अधिकारी बने हैं। सांख्यप्रवचनभाष्य में पञ्चपुराण के कुछ श्लोक उद्धृत किए गए हैं जिनमें शिवजी ने पार्वती को संबोधन करके कहा है कि हे देवि, मायावाद बड़ा असत् शास्त्र है। मैंने ही कलियुग में ब्राह्मण का रूप धारण करके इस शास्त्र की रचना की है। इसमें मैंने अतिवाक्यों का गलत अर्थ किया है और कर्म-स्वरूप की त्याग्यता का प्रतिपादन किया है। सर्व कर्मों के परिभ्रंश को बता करके नैकर्म्य भावना का मैंने समर्थन किया है। यह मच्छत्र बौद्धमत है—

मायावादमसम्भ्रातृं प्रच्छुल्लं बौद्धमेव च।

मयैव कथितं देवि कलौ ब्राह्मणरूपिणा ॥

अपार्थं अतिवाक्यानां दर्शयन् लोकगर्हितम्।

कर्मस्वरूपत्याग्यत्वमत्र च प्रतिपाद्यते ॥

सर्वकर्मपरिभ्रंशप्रेष्कर्म्यं तत्र चोच्यते।

परमात्मजीवयोरैक्यं मयात्र प्रतिपाद्यते ॥

उठ काल के साहित्य से अनेक ऐसे उदाहरण लोखे जा सकते

हैं। उत्तरकालीन मध्ययुग में तो यह प्रवृत्ति इतनी प्रबल हुई कि प्रत्येक सम्प्रदाय के लिये एक भाष्य का होना अत्यन्त आवश्यक माना जाने लगा था। भाष्य या तो उपनिषदों पर यह ब्रह्मसूत्र ( बादरायण के वेदान्त सूत्र ) पर या गीता पर होना चाहिए था। इनको 'प्रस्थानत्रयी' कहा जाता था। किसी सम्प्रदाय के पास तीनों के भाष्य हैं, किसी के पास दो के, और किसी-किसी के पास केवल एक का ही। उत्तर मध्ययुग में भाष्यहीन सम्प्रदाय अवैदिक समझ लिया जाता था। कहते हैं कि अपना भाष्य न होने के कारण अचिन्त्य मेदाभेदवादी गौड़ीय वैष्णवों को एक बार जयपुर में कठिनाई में पड़ना पड़ा था। बलदेव विद्याभूषण ने पंडित-सभा में मोहलत माँगी थी और उपास्यमूर्ति की कृपा से अल्पकाल ही में वेदांतसूत्र पर भाष्य लिख डाला था।

---

## ३. वेद-विरोधी स्वर

एक तरफ वेदों को एकमात्र अविरोधाधी प्रमाण मानने की प्रवृत्ति जित प्रकार तीव्र रूप धारण करती जाती थी दूसरी ओर उसकी उतनी ही तीव्र प्रतिक्रिया भी चल रही थी। कितने ही तान्त्रिक मतों ने अपने को खुल्लमखुल्ला वेद-विरोधी सम्प्रदाय घोषित किया और दृढ़ कंठ से समस्त वैदिक मतों का प्रत्याख्यान किया। प्रतिक्रिया इतनी उग्र थी कि अत्यन्त सहज बात को भी वे लोग भड़काने वाली भाषा में कहते थे और हर प्रकार से वैदिकमार्ग का उलटा मुनाई देने वाला बकव्य देते थे। सब समय उसका अर्थ उलटा होता नहीं था। वह बहुत-कुछ भड़कानेवाली भाषा में जान-बूझकर कहा जाता था परन्तु उसका वास्तविक अर्थ उतना भड़काने वाला नहीं हुआ करता था।

विक्रम की छठीं शताब्दी के बाद जो तान्त्रिक प्रभाव भारतीय साधना के ऊपर पड़ा वह परवर्तीकाल के संतों या निर्युगियों भक्तों की साधना के रूप में प्रकट हुआ। इस साहित्य का बीजारोपण विक्रम की छठीं शताब्दी में ही हुआ और विक्रम की नवीं और दसवीं शताब्दी तक वह अंकुरित होता रहा इसलिये संक्षेप में इस काल की धार्मिक प्रवृत्तियों का परिचय दे देना आवश्यक है।

वस्तुतः विक्रम की छठीं से लेकर दसवीं शताब्दी तक के धार्मिक इतिहास को परिपूर्ण रूप देने के लिये जो सामग्री उपलब्ध है वह विशाल होने पर भी पर्याप्त नहीं है। इस कार्य को संपन्न करने में अधिकोद्य साम्प्रदायिक ग्रंथों का आश्रय लेना पड़ता है परन्तु, जैसा कि ऊपर बतलाया गया है सभी धार्मिक साधक और सम्प्रदाय अपने सिद्धान्तों के उपस्थापक ग्रंथ लिख ही गए हों ऐसी बात नहीं। ऐसे अनेक सम्प्रदाय थे और रहे होंगे जिनका कोई ग्रंथ बचा नहीं है। किसी सम्प्रदाय का जनता पर प्रभाव तो कम रहा है पर ग्रंथ उनके

अनुयायियों के द्वारा अधिक लिखे गए हैं। इसीलिये ग्रंथों की संख्या का अधिक होना किसी सम्प्रदाय विशेष के प्रबल प्रभावशाली होना का लक्षण नहीं है।

समसामयिक साधना-पद्धतियों एक दूसरे को प्रभावित और रूपांतरित करती रहती है इसलिये धार्मिक साधना के इतिहास में छोटी बड़ी सभी प्रवृत्तियों का महत्व रहता है। कभी कभी शुरू में अत्यन्त मामूली दिखलाई पड़नेवाली भावधारा लोकधर्म का अत्यन्त प्रबल रूप धारण करती हुई देखी गई है। हमारे आलोच्यकाल में तंत्रिक साधना ने और योगभ्यास ने बहुत प्रबल रूप धारण किया था। इस काल की धार्मिक साधना के अध्ययन के लिए हमें अधिकांश संस्कृत पुस्तकों का आश्रय लेना पड़ता है। दक्षिण भारत की लोकभाषा में लिखे हुए भक्तिमूलक ग्रंथ आगे चलकर जगद्दर्शक दार्शनिक और धार्मिक सम्प्रदायों की स्थापना के कारण हुए हैं। इस तथ्य से यह अनुमान करना असंगत नहीं है कि आग्नेय धर्म-सम्प्रदायों और साधना मार्गों के विकास में भी लोकभाषा का हाथ रहा होगा। इस दृष्टि से जितनी पुस्तकें हमें मिलनी चाहिए उतनी मिली नहीं हैं फिर जो हैं भी उन सबका उद्धार भी कहीं हुआ है।

पाँचराश साहित्य बहुत प्राचीन और विशाल है बद्यपि इसके ग्रंथों की आनुश्रुतिक संख्या १०८ ही बताई जाती है तथापि दो सौ से भी अधिक संहिताओं का पता चला है। पर अभी तक कुल १३ संहिताएं ही छपी हैं इनमें भी नागरी अक्षरों में छः ही उपलब्ध हैं बाकी तेलगु या ग्रंथलिपि में छपी हैं<sup>१</sup>। दैव आगमों और उपगमों की संख्या ११८ बताई जाती है पर

<sup>१</sup>. जयाकन्य संहिता (नागकवाड सोरीज २४) के संपादक ने निम्न-लिखित संहिताओं के नाम दिए हैं—अधिरुद्र संहिता (नागरी) ईश्वर संहिता (तेलगु) कपिल संहिता (ते०) जयाकन्य संहिता (नागरी) पाराशर संहिता (ते०) पद्मसूत संहिता (ते०) दृष्ट दृष्ट संहिता (ते० ना०) सरदास संहिता (ते०) लक्ष्मीतंत्र संहिता (ते०) विष्णुविजय (ते०) प्रश्न संहिता (ग्रंथ लिपि) और सारस्वत सं० (ना०)।

उनमें से बहुत कम मुद्रित हैं वहीं बात चाण्डियों, स्तोत्रों तथा इसी श्रेणी के अन्य साहित्यों के लिये भी सत्य है।

यहाँ एक बात विशेष रूप से स्मरण रखने योग्य है, इस देश में आज जितनी जातियाँ बसती हैं वे सभी सदा से आर्य-भाषाभाषी नहीं रही हैं। उत्तर भारत में सर्वत्र जनसाधारण की भाषा आर्य-भाषा बन गई है। आर्यों के आने के पहले इस देश में ऐसी अनेक जातियाँ थी जो आर्योत्तर भाषा बोला करती थीं। आर्यों के साथ इन जातियों का, किसी भूले हुए युग में, बड़ा कठोर संघर्ष हुआ था। असुरों, दैत्यों, नागों, यक्षों राक्षसों आदि के साथ आर्यजाति के साथ कठोर संघर्ष की कहानियाँ हैं। उन्होंने धीरे धीरे आर्यभाषा और आर्य विश्वास को स्वीकार कर लिया परन्तु उनके विश्वास और उनकी भाषा ने नीचे से आक्रमण किया और आर्य-भाषा ऊपर से आर्य बने रहने पर भी उनकी भाषाओं और उनके विश्वासों से प्रभावित होती रही। उनके विश्वासों ने हमारी धर्म-साधना और सामाजिक रीति नीति को ही नहीं, हमारी नैतिक परंपरा को भी प्रभावित किया। जैसे जैसे वे आर्य भाषा सीखती गईं जैसे जैसे उन्होंने आर्यों की परंपरागत धर्म-साधना और तत्त्व-चिन्ता को भी प्रभावित किया। धीरे धीरे समूचा उत्तरी भारत आर्य भाषी तो हो गया पर आर्य भाषी बनी हुई जातियों के सम्पूर्ण संस्कार भी उनमें लगे के स्थो रह गए। यह ठीक है कि कुछ जातियों ने जल्दी आर्य भाषा सीखी, कुछ ने थोड़ी देर से और कुछ तो जंगलों और पहाड़ों की ऐसी दुर्गम जगहों में जा बसी कि आज भी वे अपनी भाषा और संस्कृति को पुराने रूप में सुरक्षित रखती आ रही हैं। परिवर्तन उनमें भी हुआ है पर परिवर्तन तो जगत् का धर्म है। मोटे तौर पर हम कह सकते हैं कि विक्रमादित्य द्वारा प्रवर्तित संवत् के प्रथम सहस्र वर्षों तक यह उमल पुलल चलती रही और आज से लगभग एक सहस्राब्दी से कुछ पूर्व ही उत्तर भारत प्रायः पूर्णरूप से आर्यभाषाभाषी हो गया। संस्कृत के पुराण ग्रंथों से हम इन आर्योत्तर जातियों की सभ्यता और संस्कृति का एक आभास पा सकते हैं। 'आभास' इसलिए कि षट्पथः ये पुराण आर्यदृष्टि से—तत्रापि ब्राह्मण दृष्टि से—लिखे गए हैं और फिर बहुत पुरानी बातें

होने के कारण इन बातों में कल्पना का अंश भी मिल गया है। बौद्ध और जैन अनुश्रुतियों के साथ इन पौराणिक कथाओं के मिलाने से कुछ कुछ बातें समझ में आ जाती हैं, पर यह तो हम भूल ही नहीं सकते कि ये अनुश्रुतियाँ भी विशेष दृष्टि से देखी हुई हैं। अस्तु, फिर भी जो सामग्री उपलब्ध है वह विपुल है पर इतनी छितराई हुई है कि उसके आधार पर कार्य करना कठिन है। इस विषय की मीमांसा बहुत कम हुई है। यक्षोदा, मैथिल, काशी, कलकत्ता, आद्वार आदि स्थानों से इधर बहुत से अमूल्य ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं। चीनी और तिब्बती भाषाओं में अनेक ऐसे ग्रंथों के अनुवादों का संधान मिला है जो मूलरूप में लो गए हैं। सुदूर सुमात्रा, जावा, बाली, थाई-देश आदि देशों के मंदिरों में उत्कीर्ण लेखों से इनके विषय में अनेकानेक तथ्य उद्घाटित हुए हैं पर अभी तक इन सबको मिलाकर मनन करने का प्रयास नहीं हुआ है।

भी भायङ्गरकर की प्रसिद्ध पुस्तक 'वैष्णविष्णु, शैविष्णु एवम् साइनर सेकडस आष दि दिव्ज' इस विषय की पुरानी पुस्तक हो गई है—यद्यपि अभी बहुत शास्त्रों की जानने का आकर वही है। नेपाल में भी हरप्रसाद शास्त्री के देखे हुए ग्रंथ तथा बौद्धगान और दोहे, भेडर की वैष्णव साहिताओं की महत्वपूर्ण सामग्री, आर्थर एवेलेन की संप्रशास्त्रीय पुस्तकें, भीमोपीनाथ कविराज द्वारा लिखित और संपादित शाक्त और नाथमत के लेख और ग्रंथ तथा अन्य अनेक पण्डितों के प्रयत्न अभी छितराई हुई अवस्था में हैं। इस क्षेत्र में उल्लेख्य प्रयत्न फर्ग्यूसन का 'एन आउट लाइन आष दि रिलिजस लिटेचर आष इंडिया' ही है। परन्तु यह पुस्तक अधिकांश में साहित्यिक पैमाइश है। इधर हिंदी में भी नलदेव उपाध्याय एम० ए० साहित्याचार्य ने 'भारतीयदर्शन' नामक महत्वपूर्ण पुस्तक लिखी है जिसमें अब तक उपेक्षित वैष्णव, शैव और शाक्त आगमों के तत्त्वज्ञान का बड़ा विशद विवेचन है। सब मिलाकर भारत के धर्म सम्प्रदायों के अध्ययन का प्रयत्न अभी वात्स्या-वस्था में ही है।

## ४. पूर्व-मध्ययुग की विविध साधनाएँ

षष्ठ-दशम शतक के काल में यश्याग के स्थान पर देव-मंदिरों की प्रधानता लक्षित होती है। पूर्ववर्तीकाल के आर्य ग्रंथों को आकर रूप में स्वीकार करने की प्रवृत्ति बढ़ती पर दिखाई पड़ती है, वेद प्रामाण्य का स्थान अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है और विरोधी सम्प्रदायों को अवैदिक कहकर उड़ा देने की चेष्टा अरम सीमा तक पहुँच जाते हैं। दर्शन के क्षेत्र में भाष्यों और टीकाओं के सहारे और धर्म के क्षेत्र में पुराण, उपपुराण और स्तोत्रों के सहारे-आकर ग्रंथों के सिद्धान्त के प्रचार की प्रवृत्ति अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाते हैं; वैष्णव, शैव, शक्त गान्धर्व और सौर से लेकर बौद्ध और जैन सम्प्रदायों तक में संन्य, ग्रंथ, मुद्रा आदि का प्रचार बढ़ता दिखाई देता है। प्रायः सभी सम्प्रदायों में उपास्य देवों की शक्तियों की कल्पना का गई है और यह प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती पर दिखाई देती है। यह काल भारतीय मनीषा की जागरूकता, कर्मयत्ना और प्रतिभागत उत्कर्ष का काल है। विशेषरूप से लक्ष्य करने की बात यह है कि इस काल में भारतीय धर्म प्रचारकों का दूर दूर देशों से घनिष्ठ संबंध बढ़ता ही गया। बौद्धधर्म के प्रचारकों का चीन से जो संबंध इस काल के पूर्व ही स्थापित हो चुका था वह और भी दृढ़ होता गया और इस काल में चीन के दो अत्यन्त उत्साह-परायण, विद्याव्यसनी महापुरुष-हुएन्सांग और ह्वुत्सिंग-यात्रा रूप में इस देश में आए। ये लोग—विशेषतः हुएन्सांग—इस देश से बहुत बड़ी ग्रंथराशि अपने साथ चीन ले गए, जिनमें से अधिकांश का चीनी भाषा में अनुवाद सुरक्षित है यद्यपि वे मूलरूप में खो गए हैं। हुएन्सांग के जीवनवृत्त से पता लगता है कि अपने साथ महायान सूत्र के २९४ ग्रंथ, अभिधर्म के २३२ ग्रंथ, स्थविर सम्प्रदाय के सूत्र, विनय और अभिधर्म आतीथ १४ ग्रंथ, महासंघिक सम्प्रदाय के हसी भेय्या के १५ ग्रंथ, महीशास्त्रक सम्प्रदाय के तानों भेयियों के २२ ग्रंथ, कारकपीय,



धर्मगुप्त और सर्वास्तिवादी सम्प्रदायों के इसी प्रकार के कमरा: १७, ४२, और ६७ ग्रंथ साय ले गए थे। इस ग्रंथराशि का उद्धार अभी नहीं हुआ है। विक्रम की छठी शता के मध्य या उत्तर भाग में बौद्ध धर्म जापान पहुँचा और सातवीं आठवीं शती में और देश (तिब्बत) में कंबोडिया, सुमात्रा, जावा, श्याम और बाली आदि में बौद्ध शैव और वैष्णव धर्मों का प्रवेश इसी काल में हुआ, इस प्रकार हमारे आलोच्यकाल के पूर्वार्द्ध में समूचे पूर्वी देशों में भारतीय धर्म पहुँच चुका था। स्वयं भारत ने भी इसी काल में एक आर्य धर्म को आभय दिया। मुसलमान नेताओं के भय से भागे हुए जयसुत्र धर्मवालों ने आलोच्यकाल के पूर्वार्ध के अंतिम वर्षों में इस देश में आभय पाया था। यह कहना असुक्ति नहीं है कि यह काल आगरण, चिन्तन, कर्मण्यता और मानसिक औदार्य का है। परन्तु उसके बाद के काल में शिथिलता अधिक लक्षित होती है। इस काल में भारत का विदेशों से संबंध उत्तरोत्तर शिथिल होता जाता है। इस्लाम जैसे नए शक्तिशाली और संपटित धर्म सम्प्रदाय से संपर्क होता है, टीकाओं और निबंधों पर आभित होने की प्रवृत्ति बढ़ती जाती है, शास्त्रीय मतवादी को लोकधर्म के सामने झुकना पड़ता है और अंत में लोकधर्म प्रबल भाव से शास्त्रमत को अभिभूत कर लेते हैं।

आलोच्य काल में कुमारिल और प्रभाकर जैसे विख्यात मीमांसकों का प्रादुर्भाव हुआ, जिन्होंने कर्म मीमांसा को नवीन शक्ति के रूप में उज्ज्वलित किया; भुवन-विभूत आचार्य शंकर का प्रादुर्भाव हुआ, जिनके अद्वैतवाद ने प्रायः सभी वैदिक सम्प्रदायों को प्रभावित किया; सर्वतन्त्रस्वतन्त्र वाचस्पति मिश्र का उद्भव भी लगभग इसी काल में हुआ। संभवतः न्याय-दर्शन पर लिखा हुआ वात्स्यायन भाष्य इसी काल के आरंभ में लिखा गया और 'न्यायवर्तिक' के प्रसिद्ध आचार्य उद्योतकर का जन्म तो निश्चित रूप से इसी काल में हुआ प्रसिद्ध बौद्ध माध्यमक आचार्य चन्द्रकीर्ति ने इसी काल में 'माध्यमकावतार' और 'प्रसन्नपदा' (नागार्जुन की कारिका पर टीका) लिखी। इनका समय विक्रम की सातवीं शती का उत्तरार्ध है। शांतिदेव बिनका 'बोधिचर्यावतार' श्याम और आत्मवलिदान का अपूर्व ग्रंथ है, इसी काल में हुए थे। विज्ञान

धादियों के आचार्य चन्द्रगोमिन् भी इसी समय हुए और सम्यक्तन्त्र और अकलंक जैसे जैन मनीषी भी इसी काल में प्रादुर्भूत हुए। काव्य, नाटक, कथा आख्यायिका, अलंकार आदि के क्षेत्रों में इस काल में जो प्रतिभाशाली व्यक्ति पैदा हुए वे पर्याप्त प्रसिद्ध हैं।

इस युग के धर्म विश्वास के मनन के लिये सबसे उपयोगी ग्रंथ पुराण, आगम, तंत्र और संहिताएँ हैं। परन्तु पुराणों के बारे में यह कहना कठिन है कि कौन सा पुराण वा उसका अंश-विशेष कब रचा गया। भारतीय साहित्य में पुराण कोई नई चीज नहीं है। धर्म सूत्रों और महाभारत में पुराणों की चर्चा आती है। 'आपस्तम्बीय धर्म सूत्र' में तो पुराणों के वर्चन भी उद्धृत हैं। मनोरंजक बात यह है कि प्रायः सभी मुख्य पुराणों में अष्टादश पुराणों की सूची दी हुई है अर्थात् प्रत्येक पुराण यह स्वीकार करता है कि उसकी रचना के पहले अन्योन्य पुराण बन चुके थे। इतना तो निश्चित है कि हमारे आलोच्यकाल के पूर्वार्ध के समाप्त होते होते प्रायः सभी पुराण लगभग उसी स्वरूप को प्राप्त कर चुके थे जिसमें वे उपलब्ध हैं। उनमें प्रक्षेप-परिवर्धन बाद में भी होता रहा है, परन्तु परवर्तीकाल में साम्प्रदायिक प्रवृत्ति की स्थिति इतनी स्पष्ट है कि इन प्रक्षिप्त परिवर्धित अंशों को खोज निकालना बहुत कठिन नहीं है। उदाहरणार्थ, 'भागवत पुराण' को सर्वश्रेष्ठ प्रमाण के रूप में स्वीकार करने की प्रवृत्ति बाढ़ में आई है और पञ्चपुराणातिर्गत पाताल खंड का जो 'नरसिंह उप पुराण' है उसमें यह प्रवृत्ति है इसलिए हम उसे परवर्ती समझ सकते हैं। 'पद्मपुराण' के उत्तर खण्ड में और स्कंद पुराण के वैष्णव खण्ड में भी ऐसी ही प्रवृत्ति है, इसलिए इन्हें भी हम परवर्ती कह सकते हैं। 'शिव पुराण' के वायवीय संहिता और 'देवी भागवत' में उत्तरकालिक सम्प्रदायों की बातें होने से उनका काल भी बाद का ही होगा। जो हो, हम इतना मान ले सकते हैं कि मुख्य मुख्य पुराणों की रचना इस काल में बहुत कुछ समाप्त हो चुकी थी इन अठारह पुराणों के नाना भाँति से विभाग किए गए हैं। बताया गया है कि इनमें छः साम्य प्रकृति वालों के लिये छः राजस प्रकृतिवालों के लिये और छः सात्विक प्रकृतिवालों के लिये हैं वैष्णव

पुराणों को सात्विक कहा गया है, इसलिये यह अनुमान संगत ही है कि विभेद परवर्ती वैष्णव कल्पना है। हमारे आलोच्यकाल के आरंभ में ही पंचदेवों-विष्णु, शिव, दुर्गा, सूर्य और गणपति की उपासना चल पड़ी थी। अनुभूति शंकराचार्य को इस उपासना का आवि प्रचारक मानती है। पंचदेवों में ब्रह्मा का नाम न आने से कुछ पंडित अनुमान करते हैं कि यह निश्चय ही उस समय की कल्पना होगी जिस समय ब्रह्मा की पूजा ठठ खुकी रही होगी। विक्रम के सातवीं शती के आसपास इस प्रकार की कल्पना की गुंजाइश है। इस अनुमान के साथ अनुभूति का कोई विरोध नहीं देख पड़ता इसलिए यह कहना असंगत नहीं है कि शंकराचार्य के समय में ही यह उपासना प्रचलित हुई। स्मार्त लोग पंचदेवोपासक हैं, वे शंकर को मानते भी हैं; यद्यपि उनका विरोध किसी से नहीं है तथापि व्यवहार में स्मार्त और वैष्णव विरोधी जैसे ही लगते हैं। अनेक पुराण पंचदेवों की उपासना पर जोर देते हैं। पंडितों का अनुमान है कि 'शकपुराण' स्मार्तों का पुराण है और अग्निपुराण भी स्मार्त ग्रंथ ही है—यद्यपि उसमें वैष्णव उपादान अधिक हैं<sup>१</sup>। इन दोनों पुराणों में आगमों और तंत्रों का प्रभाव है। कहा गया है कि नारद, वाराह, वामन और ब्रह्मवैवर्त पुराणों में वैष्णव भाव है और शिव, कूर्म इनमें शैव भाव। पंडितों का यह अनुमान पुराणों के अंतस्साध्य के अनुसार संगत नहीं जान पड़ता। स्कंदपुराण के केदार खण्ड के अनुसार अठारह पुराणों में दस शैव, चार ब्राह्म, दो शाक्त और दो वैष्णव<sup>२</sup> हैं। इसी पुराण में शिव रहस्य खण्ड के अन्तर्गत संभव काण्ड में उनके और ही तरह से नाम भी बताए गए हैं।

१. वेक्षिप कर्कुरकृत 'येन आसद आह्वय आब दि रिजिजस सिदरेचर इन ईरिया, पृष्ठ १०८-९।

२. अष्टादश पुराणेषु दशभिर्गोपते शिवः।

अनुभिर्भगवान् ब्रह्मा द्वाभ्यां देवी तथा हरिः। अ० १।

शिव, भविष्य, मार्कण्डेय, लिंग, वाराह, स्कंद, भक्त्य, कूर्म, धामन और ब्रह्माण्ड ये दस शैव पुराण हैं। विष्णु, भागवत, नारदीय और गरुड़ ये चार वैष्णव पुराण हैं। ब्रह्म और पद्म ये दो ब्राह्म पुराण हैं; अग्निपुराण, अग्नि की और ब्रह्मवैवर्त पुराण सूर्य की महिमा गाते हैं।<sup>१</sup>

- 
१. तत्र शैवानि शैवं च भविष्यं च द्विजोत्तमाः ।  
 मार्कण्डेय तथा खैरा वाराहं स्कंदमेव च ॥ ३० ॥  
 भक्त्यमन्यतथा कूर्मं धामनं च मुनीरचराः ।  
 ब्रह्माण्डं च दशोभानि त्रीणि खण्डानि संख्यया ॥ ३१ ॥  
 विष्णोर्हि वैष्णवं पञ्च तथा भागवतं तथा ।  
 नारदीयं पुराणं च गरुडं वैष्णवं विदुः ॥ ३३ ॥  
 ब्राह्मं पद्मं ब्रह्मणो ह्ये अग्नेराग्नेयमेकमेव ।  
 संहितुमैकमेव सर्वमेवमष्टादश स्मृतानि ॥ ३४ ॥

## ५. तंत्र प्रमाण और पंचदेवोपासना

हमने अपने आलोच्यकाल के पूर्वार्ध को तंत्र प्रभाव का काल कहा है। 'तंत्र' क्या है ? तंत्र शब्द का शास्त्र सिद्धांत, ग्रंथ आदि भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयोग हुआ है। शैव सिद्धांत के काविक आगम में बताया गया है कि तंत्र को तंत्र इसलिए कहते हैं कि वह तत्त्व तंत्र समन्वित विपुल अर्थों का विस्तार करता है, और साधकों का प्राण भी करता है<sup>१</sup>। साधारण तौर पर समझा जाता है कि तंत्र शाक्त ग्रंथों का नाम है। परन्तु सभी प्रकार के आगमों को तंत्र कहा गया है। ये आगम तीन भेदों के हैं—वैष्णव, शैव और शाक्त। व्यवहार में इन तीनों के अश्विक प्रचलित नाम क्रमशः संहिता, आगम और तंत्र हैं, परन्तु वस्तुतः इन तीनों का ही सामान्य नाम आगम और तंत्र है। श्री मन्त्रागवत में पांचरात्र या साखत संहिताओं को साखत तंत्र कहा गया है<sup>२</sup>। आगमों में कुछ को वैदिक कहा जाता है और कुछ को अवैदिक हमने पहले ही कहा है कि हमारे आलोच्य काल में किसी संप्रदाय को अवैदिक कहकर लोकचक्षु में उसे हीन प्रमाणित करने की प्रवृत्ति प्रचल थी। संभवतः जिस समय बौद्ध धर्म क्षीय-प्रभाव हो चुका था, नया ब्राह्मण धर्म पूर्ण पराक्रम से जाग उठा था और गुप्त-नरपतियों की छत्रच्छाया में जब नई राष्ट्रीय उमंग देश के कोने कोने में व्याप्त हो चली थी उस समय अपने को वैदिक प्रमाणित करना लोकदृष्टि में ऊँचे

<sup>१</sup>. तनोति विपुषानर्थान् तत्त्वमंत्रसमन्वितान्।

आर्या यं कुरुते यस्मात्तंत्रमित्यभिधीयते ॥

सर जान उद्धरण की 'शक्ति पञ्चक शाक्त' पृष्ठ १८ में उद्धृत।

<sup>२</sup>. तेनोक्तं साखतं तंत्रं यज्ज्ञात्वा मुक्तिभागमेवेत्।

यत्रस्त्रीशूद्रदासानां संस्कारो वैष्णवः स्मृतः। सागवत

उठने का साधन था । हमने पहले ही देखा है कि जिन सम्प्रदायों का लोक में प्रभाव था वे अपने को धुत्तिसंमत सिद्ध कर रहे थे और अन्य सम्प्रदायों को उसी उस्ताह के साथ श्रुतिविगर्हित बना रहे थे । 'कूर्मपुराण' में कापाल, लकुल, वाम भैरव, पूर्व, पश्चिम, पांचरात्र, पाशुपत आदि को अवैदिक आगम बताया गया है । अवश्य ही पाशुपतों के दो भेद बताए गए हैं जिनमें से कापाल, लकुल, सोम और भैरव अवैदिक हैं, शेष वैदिक<sup>१</sup> । शंकराचार्य ने पाशुपत मत को अवैदिक ही समझा था<sup>२</sup> स्वयं शंकरमठ पर भी विरोधियों ने असत् और अवैदिक होने का आरोप किया था—'नायावादमसच्छास्त्रं

१. पृथं समोक्षितो ददौ भाधवेन सुरारिणा ।

अकार मोहशास्त्राणि केशवोऽपि शिवेरितः ॥

कापालं लाकुलं वामं भैरवं पूर्व-रक्षितम् ।

पांचरात्रं पाशुपतं तथाभ्यानि सहस्राक्षः ॥

—कूर्म पुराण १६ अध्याय पृष्ठ १८४ (कलकत्ता संस् १८३०)

शास्त्राणि चैव शास्त्राणि लोकेस्मिन्मेहनानि तु ।

वेदवाङ्मन्यद्वानि मयैव कथितानि तु ॥

वामं पशुपतं सोमं लाकुलं चैव भैरवम् ।

असेव्यमेतत्कथितं वेदवाङ्मन्यं तथेतरम् ॥

वेदमूर्तिरहं विष्णो नाभ्यशास्त्रार्थवेदिभिः ।

शायते सत्स्वरूपन्तु मुक्त्यै देव्यं सनातनम् ॥

स्थापयन्मित्रं मार्गं पूजयन् महाेश्वरम् ।

ततोऽचिराद्दूरं शानमुपस्पति म संशमः ।

—वही, उत्तर भाग, अ० १८, पृष्ठ ७४१

२. सा चेयं वेदवाङ्मन्यद्वार कल्पना नेक प्रकाशः—'महाेश्वरास्तु सम्प्रभ्यते कार्यकारण योग विधि दुःखान्ताः पंचपदार्थाः पशुपतिपतिनेश्वरेण पशुपाश विमोक्षकाद्योपदिष्टाः पशुपतिरीश्वरो निमित्त कारणाभितिवर्णयन्ति ।

—शारीरक भाष्य, २, २, ३७

मन्त्रज्ञ' बौद्धमेव च'। किसी आधुनिक पंडित ने 'आगम' (= आया हुआ) शब्द का व्युत्पत्ति-सम्य अर्थ देखकर अनुमान भिड़ाया है कि इस नाम के शास्त्र वैदिक धर्म में बाहर से आकर जुड़ गए हैं। आगम का शास्त्रीय अर्थ यह नहीं है। आगम उस शास्त्र को कहते हैं जिससे मोक्ष और भोग के उपाय समस्त में आएँ<sup>१</sup>। यहाँ यह बात स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिए कि अन्य सम्प्रदायों का अवैदिक कहना उस युग की प्रवृत्ति ही है। कहने मात्र से कोई धर्म वैदिक या अवैदिक नहीं हो जाता। आगमों में से भी सभी एक स्वर से अपने को वैदिक मानते हैं। शंकराचार्य ने 'शारीरक भाष्य' में पांचरात्र मत को वेदवाक्य माना है। पांचरात्र मत की अतुल्य कल्पना को, जिसकी अर्चा आगे की जाएगी, उद्धृत करके उसे अयुक्तिसंगत बताया है<sup>२</sup>। उन्होंने पांचरात्रों के किसी शास्त्र से यह अनुश्रुति उद्धृत की है कि चारों वेदों में परम भोग न पाकर शाकिल्य ने इस शास्त्र को प्राप्त किया था। ऐसा कहना उनके मत से स्पष्ट ही वेद की निन्दा करना है। रामानुचार्य ने 'श्री-भाष्य' में इसका उत्तर दिया है। उन आगमों के अनुयायियों ने, जिन्हें वेदवाक्य कहा गया है, अपने मत को वेदसमंत सिद्ध किया है। वास्तविक तथ्य यह है कि इस काल की कोई भी कृति सर्वश्रुतः वेद की प्रतिष्ठा नहीं है, यद्यपि वेदों में सबका मूल खोज लिया गया है। धार्मिक साधना जीर्णतस्तु है। वह आस पास से अपने विकास के लिए पोषक द्रव्य संग्रह करती है। आगमों भी ऐसा ही हुआ है। उनमें भी ऐसी बातें अवश्य हैं जो वेदों में या तो कम हैं या हैं ही नहीं, समस्त आगमों में कुछ बातें सामान्य पाई जाती हैं जो इस युग की विशेषता हैं।

ऊपर आगमों में जो तीन भेद बताए गए हैं उनके और भी उपभेद हैं। वैष्णव आगम दो प्रकार के हैं—पांचरात्र संहिताएं और वैज्ञानस संहिताएं शैवों के कई सम्प्रदाय हैं—माहेश्वर, लकुल, भैरव, काश्मीर शैव आदि, जिनकी अर्चा हम आगे करेंगे। शाक्तों के भी नौ आम्नाव और

<sup>१</sup>. तत्त्व वैयाकरण १, ७, १।

<sup>२</sup>. शारीरक भाष्य, २, २, ४६।

चार सम्प्रदाय हैं—केरल, काश्मीर, गोंड और विलास भारतवर्ष में बंगाल और आसाम शाक्तों के प्रधान स्थान हैं, यद्यपि ये सारे भारत में पाए जाते हैं। इनका संबंध उत्तर के शैवों से है, किलो समय काश्मीर में जिनका प्राधान्य था। इन सभी सम्प्रदायों के आगमों में थोड़ा बहुत अंतर होते हुए भी समानता बहुत अधिक है। सभी आगम अपने अपने उपास्य देव को परमत्त्व के रूप में स्वीकार करते हैं। देवता की शक्ति या शक्तियों में और ईश्वर की इच्छाशक्ति तथा क्रियाशक्ति में—विश्वास करते हैं; जगत् को परमतत्त्व का परियाम मानते हैं; भगवान् श्री कमिक—उद्भूति (व्यूह आभास) आदि का समर्थन करते हैं, शुद्ध और शुद्धेतर पर आस्था रखते हैं; माया के कोश-कंशुक (पांचरात्रों के 'संकोच' से तुलनीय) की कल्पना करते हैं; प्रकृति से परे परमतत्त्व को समझते हैं, आगे चलकर सृष्टिक्रम में प्रकृति को स्वीकार करते हैं; साख के सत्त्व रज और तम गुणों को मानते हैं; भक्ति पर जोर देते हैं; उपासना में सभी वर्णों और पुरुष तथा स्त्री दोनों का अधिकार मानते हैं; मंत्र, बीज, यंत्र, मुद्रा, न्यास, भूतसिद्धि और मूँडलिनी योग की स्थापना करते हैं; चर्या, (धर्मचर्या) क्रिया (मंदिर निर्माण आदि) का विधान करते हैं<sup>१</sup>। वस्तुतः, जैसा कि उद्धरक ने कहा है, मंत्र, यंत्र, न्यास, बीजा, गुरु आदि तत्त्व जिसमें है वही तंत्र शास्त्र है और दृष्टि से सभी आगमशास्त्र निश्चय ही सांभिक प्रभावोपक्ष हैं। आगमों में विभेद अनेक हैं। पारिभाषिक शब्द भी एक नहीं हैं पर मूलस्वर सबका एक ही है। उद्धरक ने ठीक ही कहा है कि मूल सूर इतना ऐक्यमय है कि पारिभाषिक शब्दों के भेद से कुछ बनता विगड़ता नहीं पांचरात्रों की भाषा में लक्ष्मी, शक्ति, व्यूह और संकोच कहें या शाक्तों की भाषा में त्रिपुरसुंदरी, महाकाली, तत्त्व और कंशुक कहें, इनमें कुछ विशेष भेद नहीं रह जाता<sup>२</sup>।

<sup>१</sup>. देखिए सर जान उद्धरक कृत 'शक्ति पञ्च शाक्त' पृष्ठ २१।

<sup>२</sup>. वही पृष्ठ २३।



## ६. पांचरात्र और वैष्णव मत

पांचरात्रमत के उपासकों को भागवत कहते हैं। हमारे आलोच्य काल के पूर्वार्ध की मुख्य घटना पांचरात्र संहिताओं का अस्त्युत्थान है। यह निर्णय करना कठिन है कि ये संहिताएँ कब और कहाँ लिखी गईं। भेडर ने अपनी महत्वपूर्ण कृति ( इट्रोडक्शन टु दि पांचरात्र एंड अहिर्बुध्न्य संहिता ) में कहा है कि ईस्वी सन् के पूर्व भी कई संहिताओं का अस्तित्व था। ईसा की आठवीं शती के पूर्व लगभग दस-बारह संहिताएँ निश्चित रूप से लिखी जा चुकी थीं। फर्कुहर का अनुमान है कि अधिक संहिताएँ छः सौ से आठ सौ ईस्वी तक में लिखी गई हैं। भेडर का कहना है कि अधिकांश संहिताएँ उत्तर भारत में बनीं और बाद में कुछ दक्षिण भारत में भी बनीं। इन संहिताओं की आनुश्रुतिक संख्या १०८ बताई जाती है, पर संहिताओं के जो भिन्न भिन्न नाम गिनाए गए हैं उनमें सामान्य नाम ग्यारह से अधिक नहीं हैं। भेडर ने ११० संहिताओं के नाम गिनाए हैं। उनके मत से जिनमें से सबसे प्राचीन ये हैं—वैष्णव, वाराह, ब्राह्म, सात्वत, जयारूप, अहिर्बुध्न्य, पारमेश्वर सनत्कुमार, परम, पद्मोद्भव, माहेंद्र, कायव, पाञ्च और ईश्वर। हमारे आलोच्यकाल में ये संहिताएँ या दो मन चुकी की या बन रही थीं।

पांचरात्र संहिताओं में क्या है ? शैव आगमों की भांति इन संहिताओं में भी चार विषयों का प्रतिपादन है—(१) ज्ञान अर्थात् ब्रह्म, जीव तथा जगत् के पारस्परिक संबंधों का निरूपण; (२) योग, अर्थात् मोक्ष के साधनभूत-योग-प्रक्रियाओं का वर्णन (३) क्रिया अर्थात् देवालय का निर्माण, मूर्तिस्थापन, पूजा आदि और (४) चर्चा अर्थात् नित्य नैमित्तिक कृत्य, मूर्तियों तथा ग्रंथों की पूजापद्धति, पर्व विशेष के उत्सव आदि<sup>१</sup> परन्तु बहुत कम संहिताओं

<sup>१</sup>. देखिए भारतीय दर्शन, पृष्ठ ४६०।

में चारों विषयों पर ध्यान दिया गया है। कुछ में ज्ञान और योग का निरूपण तो नाम मात्र को है; परन्तु क्रिया और चर्या का विस्तारपूर्वक वर्णन सभी में हुआ है। 'पाञ्चरात्र' नामक संहिता में सभी बातें हैं; पर योग के लिये ग्यारह शान के लिये पैंतालिस, क्रिया के लिये दो सौ पंद्रह और चर्या के लिये तीन सौ छिहत्तर पृष्ठ खर्च किए गए हैं।<sup>१</sup> इसीसे संहिताओं का प्रधान वस्तुत्व समझा जा सकता है। वस्तुतः क्रिया और चर्या ही संहिताओं के प्रिय और प्रधान विषय है, और यही बात अन्योन्य आगमों के बारे में भी सत्य है। इसीलिये संहिताओं को वैष्णवों का कल्पवृक्ष कहा जाना ठीक ही है। शास्त्रीय विभाग को छोड़ दिया जाय तो संहिताओं में तत्त्वज्ञान, मंत्रशास्त्र, यंत्रशास्त्र, मायायोग, योग, मंदिर निर्माण, प्रतिष्ठाविधि, सरकार (आह्निक) वर्णाभन और उत्सव इन दस विषयों का ही विस्तार है<sup>२</sup>।

पांचरात्र मत का प्रसिद्ध और विशिष्ट मत चतुर्व्यूह सिद्धांत है। इस सिद्धांत के अनुसार वासुदेव से संकर्षण (जीव) संकर्षण से प्रद्युम्न (= मन) और प्रद्युम्न से अनिकट (= अहंकार) की उत्पत्ति होती है। शंकराचार्य ने इस सिद्धांत का खण्डन किया है। इस तथ्य से यह अनुमान किया जा सकता है कि उस युग में यही मत पांचरात्रों में अधिक प्रचलित रहा होगा। सभी संहिताओं में यह सिद्धान्त नहीं पाया जाता। जिस काल की हम चर्चा कर रहे हैं उस काल में पांचरात्र संहिताएँ निश्चय ही पूजा और अन्योन्य कृतादि अनुष्ठानों में प्रयुक्त रही होंगी। दक्षिण में इस समय भी बहुत से मंदिरों में भागवत अर्चक हैं, और प्राचीनकाल में और भी अधिक रहे होंगे। तामिल देश के अधिकांश मंदिरों में पांचरात्र संहिताओं के अनुसार पूजा होती है, परन्तु अब भी ऐसे देवालय हैं जिनमें वैखानस संहिताएँ व्यवहृत होती हैं। कहते हैं कि रामानुजाचार्य द्वारा विरोध के कारण बहुत से मंदिरों से वैखानस

<sup>१</sup>. देखिए अष्टावक्रत इन्द्रोक्तज्ञान द्वे दि पांचरात्र पयस आहिदुष्य-संहिता, पृष्ठ १२।

<sup>२</sup>. देखिए वही, पृष्ठ १६

संहिताओं का व्यवहार उठ गया और उनके स्थान पर पांचरात्र संहिताओं का प्रचलन हुआ। तिरुपति के बैकटेश्वर तथा काजीवरम् के मंदिरों में अब भी वैखानस संहिताएं व्यवहृत होती हैं। दोनों संहिताओं की अनुष्ठान विधि में पर्याप्त अंतर है। अप्य दीक्षित का कहना है कि पांचरात्र मत अवैदिक है, और वैखानस मत वैदिक। यह लक्ष्य करने की बात है कि बैकटेश्वर के मंदिर में, जहाँ आज तक वैखानस संहिताएं व्यवहृत होती हैं, शिष्य और विष्णु दोनों की पूजा होती है और दोनों देवताओं का समान आदर होता था। कहते हैं कि रामानुजाचार्य वहाँ विष्णु की पूजा की प्रधानता स्थापित की<sup>१</sup>। इससे यह अनुमान किया गया है कि रामानुजाचार्य के पूर्व भागवत अर्चक लोग दीर्घकाल से वैखानस संहिताओं का प्रयोग करते आ रहे थे। तामिल देश में इन भागवत अर्चकों की वारस वैखानस संहिताएं पाई गई हैं। भागवत मत के इन दो प्रकार की संहिताओं में यद्यपि चर्चा और क्रिया का विस्तार ही अधिक है तथापि भक्ति पर निरंतर जोर दिया गया है। वस्तुतः इन संहिताओं के मत से भगवान् के अनुग्रह से ही जीव के मल का नाश होता है<sup>२</sup> और वह उनकी कृपा से ही मुक्ति पाता है। इस भवजात से मुक्त होने का उपाय निरीह होकर भगवान् की शरण में जाना

१. देखिए भर्तृहरिकृत एम आरट्ट काह्न आन दि रिक्लिजस सिटरेचर इन इंधिया, पृष्ठ १८१।

२. एवं संघटितकस्थे भ्राम्यमाद्ये स्वकर्मभिः ॥ २८ ॥

जीवे दुरात्माकुले विष्णोः कृपा काप्नुयजायते।

सा कृपा पंचमी शक्तिविष्णु संकशरुपिणी ॥ २९ ॥

अनुग्रहादिकः शक्तिः सा कृपा वैष्णवी परा।

शक्तिपाकः स वै विष्णोरगमाद्यैर्निगद्यते ॥ ३० ॥

समीक्षितस्तथा सोऽयं करुणावपेक्षया।

कर्मं साम्यं अवत्येष जीवो विष्णु समीक्षितः ॥ ३१ ॥

—अहिर्बुध्न्य संहिता, १४ ॥

(न्यास) ही है, जो भगवान् के प्रति अनुकूलता के संकल्प, प्रतिकूलता के त्याग, रत्नकत्व में विश्वास, गोप्ता या रत्नक रूप में धरण तथा आत्म-समर्पण और कार्पण्य (निरीहिता) से प्राप्य है। संहिताओं के अनुयायी द्विज के लिये यह आवश्यक था कि वह किसी योग्य गुरु से दीक्षा ले। इस दीक्षा में पांच बातें आवश्यक थी—(१) ताप (अर्थात् शल नक्र आदि की मुद्राओं को तप्त करके शरीर को सिद्धित करना) (२) पुंङ्ग ( = तिलक ) (३) नाम (नया नाम स्वीकार) (४) मंत्र और (५) याग (पूजा)। भागवतों के दो मंत्र अत्यन्त प्रसिद्ध हैं—द्वादशाक्षर (ॐ नमो भगवते वासुदेवाय) और अष्टाक्षर (ॐ नमो नारायणाय)।

विक्रम की सातवीं शती से लेकर दशवीं शती तक ताम्रिल देश में ऐसे भक्त गायकों का प्रादुर्भाव हुआ था जो भक्ति के उत्थान में एक मंदिर से दूसरे मंदिर तक भजन गाते फिरते थे। अपने इष्टदेव की मूर्ति का वियोग इनके लिए असह्य था। इन भक्तों में शैव और वैष्णव दोनों थे। वैष्णवों में इस आलवार संशुक्त प्रति प्रसिद्ध हैं। इनके भजनों में रामायण महाभारत और पुराण का प्रभाव अधिक पताया जाता है और संहिताओं का बहुत कम। शैव भक्तों में से भी तीन बहुत प्रसिद्ध हैं, और लक्ष्य करने की बात यह है कि इनके भजनों पर भी आगमों का प्रभाव कम है। इससे यह अनुमान किया गया है कि ताम्रिल देश में संहिताएँ और आगम दोनों ही बाद में पहुँचे। आलवार लोग अस्पृश्यों को भी उपदेश देते थे और कई तो अस्पृश्य कही जानेवाली जातियों में उत्पन्न भी हुए थे। ये लोग भी वैष्णव सम्प्रदाय के आदि गुरु माने जाते हैं। इनके भजनों की प्रामाणिकता स्वीकार की जाती है और मंदिरों में इनकी मूर्तियाँ पूजी जाती हैं। विक्रम की आठवीं शती के पूर्व कई आलवार भक्त हो चुके थे परन्तु इनके समय के विषय में अभी तक सर्वसमत मत स्थिर नहीं हुआ है। विक्रम की आठवीं नवीं शती के आसपास अष्टाक्षर मंत्र की प्रतिष्ठा हो चुकी थी और लगभग इसी समय की दो ऐसी उपनिषदें उपलब्ध हुई हैं जिनमें अष्टाक्षर मंत्र की महिमा बताई गई है।

ये हैं 'नारायण' और 'आत्मबोध उपनिषद्'। आगे चलकर श्री वैष्णवों में अष्टाक्षर मंत्र मान्य हुआ था

दस अवतारों की कल्पना बहुत पुरानी है, शायद बुद्ध से भी पुरानी। यद्यपि दस अवतारों में बाद में बुद्ध का नाम भी आता है तथापि 'नारायणीयो पाख्यान' में जिन दस अवतारों के नाम हैं उनमें से प्रथम अवतार हंस है तथा नवी और दशवां सात्वत और कल्कि<sup>१</sup>। इसमें बुद्ध का नाम नहीं है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि अवतार की कल्पना बुद्ध से पहले की है। हमारे आलोच्यकाल में 'वृत्ति पूर्व तापनीय' और 'वृत्ति उत्तर तापनीय' नामक दो उपनिषदों का प्रचार पाया जाता है। इनमें वृत्ति मंत्र की महिमा है, इससे यह अनुमान किया गया है कि नरसिंहमत उन दिनों प्रतिष्ठित हो चुका होगा। पंचदेवोपासकों में वृत्ति और बराह की पूजा प्रचलित थी। बाणभट्ट की 'कादंबरी' में वृत्ति की वंदना है और उक्त युग की अनेक बराह मूर्तियाँ पाई गई हैं। राम के अवतार को विशिष्ट उपास्य समझकर भी कोई सम्प्रदाय उन दिनों प्रतिष्ठित होना चाहिए। आलोच्यकाल के पूर्वार्ध में 'राम पूर्व तापनीय' और 'राम उत्तर तापनीय' उपनिषदों का पता लगता है। 'अगस्त्य-सुतीक्ष्ण संवाद' नामक इस काल की संहिता भी है जिसमें रामत्व का बलान है। इस समय सूर्य और गणेश को प्रधान मानकर भी सम्प्रदाय अमर्य प्रतिष्ठित हुए होंगे। नैपाल में 'सौर संहिता' नामक पुस्तक की एक प्रति मिली है जो सं० ६६८ विक्रमी की लिखी हुई है। बाण के समकालीन कवि मयूर के 'सूर्यशतक' से भी पता चलता है कि सौर उपासना उन दिनों प्रचलित रही होगी। प्रसिद्ध जैन आचार्य मानतुंग के 'भक्तमर स्तोत्र' से भी

<sup>१</sup> हंसः कूर्मश्च मत्स्यश्च प्रादुर्भावो द्विजोत्तमः ।

नारदो नारसिंहश्च नाम्नो राम एव च ।

रामो वाशरथिश्चैव सात्वतः कविकरेव च ॥ अंति पृष्ठे ६३३, १०१६

सौर उपासना का पता चलता है उड़ीसा के 'सांत्र पुराण' में सांघ के द्वारा सूर्य पूजा के लिये मग या शाकद्वीपीय ब्राह्मणों को ले आने की बात है। अग्नि और गरुड़ पुराणों में भी सूर्य की उपासना का उल्लेख है। इसी प्रकार 'गणपति तापनीय-उपनिषद्' से गाणपत्य सम्प्रदाय का भी अनुमान होता है। वैसे गणपति की पूजा इस देश में बहुत पहले से ही प्रतिष्ठित हो चुकी थी।

---

## ७. पाशुपत मत और शैवागम

हमारे आलोच्यकाल में शैवों का पाशुपत अधिक प्रचल था । हुएन्सांग ने अपने यात्रा-विवरण में इस मत का बारह बार उल्लेख किया है । बाणभट्ट के ग्रंथों में पाशुपतों की चर्चा है और शंकराचार्य ने अपने 'शारीरक भाष्य' में (२, २, ३७) इस मत का खबन किया है । 'लिंगपुराण' से पता चलता है कि उस समय पाशुपत की शाखाएं थी—वैदिक, तान्त्रिक और मिश्र । तान्त्रिक पाशुपत लिंग से तत् चिह्न और यज्ञ धारण करते थे, वैदिक पाशुपत लिंग, वस्त्राच्छ और भस्म धारण करते थे तथा मिश्र पशुपत समान भाव से वंचदेवों की उपासना करते थे<sup>१</sup> । वामन पुराण (अध्याय ५) से शैव पाशुपत<sup>२</sup> कालामुख और कपाली जाति के पाशुपतों का पता चलता है ।

हमारे आलोच्यकाल के पूर्वार्ध में लकुलीश के पाशुपत मत और कपालिक संप्रदायों का पता चलता है । गुजरात में लकुलीश पाशुपत का का प्रादुर्भाव बहुत पहले हो चुका था, पर पंडितों का मत है कि उसके तत्त्वज्ञान का विकास विक्रम की सातवीं आठवीं शती में हुआ होगा । यह मत इस समय तक मध्य और दक्षिण भारत में फैल चुका था । वे लोग जीव मात्र को पशु कहते हैं, शिव पशुपति हैं । पशुपति ने बिना किसी कारण साधन या सहायता के इस जगत् का निर्माण किया है । पशुपति ही समस्त कार्यों के

१. तान्त्रिकं वैदिकं मिश्रं त्रिधा पाशुपतं शुभम् ॥  
तत्तान्त्रिकांकशुलादिधारणं तान्त्रिकं मतम् ।  
त्रिगद्गात्रभस्मादि धारणं वैदिकं भवेत् ।  
रवि शंभु तथा शक्ति विघ्नेशं च जनार्दनम् ।  
यजन्ति समभावेन मिश्रं पाशुपतं हि तत् ॥

श्रीकर भाष्य में उद्धृत ॥

कारण हैं। दुखों से आत्यन्तिक निवृत्ति और परमैश्वर्य प्राप्ति—इन दो बातों पर इनका विश्वास था। कापालिक लोग वाममार्गी थे। संभवतः गृहस्थों में इनके सिद्धांतों का प्रचार नहीं था। भवभूति के 'मास्तुती माधव' में चामुंडा पूजक और अधोर घट नामक कापालिक का वर्णन है। ये लोग मानव-बलि भी दिया करते थे।

अनुभूति के अनुसार शैवगमों की संख्या अट्ठाईस है और उपागमों की एक सौ सत्तर। कुछ पंडित आगमों के बनने का स्थान उत्तर भारत (विशेषकर काश्मीर) बताते हैं। दक्षिण के शैव भक्तों की चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। जो तीन प्रसिद्ध शैव भक्त हो गए हैं, उनके नाम हैं—मान संवंधर, अप्पर, और सुन्दरभूति। प्रथम दो भक्त विक्रम के सातवीं शती के उत्तरार्ध में हुए और अंतिम आठवीं-नवीं शती में। यद्यपि इनके भक्तों में आगमों की बात आ जाती है तथापि मूलरूप से महाभारत और पुराणों से ही प्रभावित बताए जाते हैं। एक अत्यन्त प्रभावशाली कवि मणिकवाचकर हुए हैं (विक्रम की दशवीं शती) जो भाषा, भाव, तत्त्वज्ञान और काव्य मर्म के उत्तम जानकार थे। इनके विषय में जो कुछ बातें हम भक्तिसूत्रों से जान सके हैं उनसे विदित होता है कि वे के वे तामिल शैवों के तुलसीदास कहे जा सकते हैं। इनकी रचनाओं में आगमों का प्रचुर प्रभाव है।

इस काल में शैवों की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण शाखा काश्मीर में थी। इस शाखा की तत्त्व विद्या पर आगमों का प्रभाव है। शाखा के दार्शनिक मत को प्रत्यभिज्ञा, त्रिक या त्र्यंश कहते हैं। शिव, शक्ति और अणु या पशु, पाश और पति—इन तीन का प्रतिपादन होने से इस मत को त्रिक कहते हैं। अनुभूति है कि शिवजी ने अपने शैवागमों की द्वैतपरक व्याख्या देखकर अद्वैत सिद्धांत के प्रचारार्थ इस मत को प्रकट किया और दुर्वासा ऋषि को इसे प्रचार करने का आदेश दिया। इस मत के मूल प्रवर्तक आचार्य वसुगुप्त विक्रम की आठवीं शती में हुए होने। कहते हैं कि शिवसूत्र के सतहत्तर सूत्र महादेव गिरि की किसी शिना पर उतकीर्ण थे स्वप्न में शिवजी द्वारा आदेश पाकर वसुगुप्त ने उनका उच्चार किया था। इन्हीं सूत्रों के आधार पर उन्होंने अपनी 'त्र्यंश कारिका' की रचना



कारिकाएँ लिखीं। इनके दो शिष्य हुए कल्लट और सोमानंद। कल्लट ने त्रिकदर्शन का और सोमानंद ने प्रत्यभिज्ञादर्शन का प्रतिपादन किया। सोमानंद के शिष्य उत्पल ये और उनके प्रशिष्य ये प्रसिद्ध अभिनव गुप्त पादार्चार्थ। कई पंडित इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि शैवागमों में जितना अद्वैत सत है उससे भी अधिक इस प्रत्यभिज्ञा मत में है।

हम पहले ही लक्ष्य कर चुके हैं कि पूर्वी भारत में फैले हुए शाक्तमत के साथ इस काश्मीरी शैव मत का संबंध था। पर इसका मतलब यह नहीं है कि शक्तिपूजा शैवमत की इसी समय की निकली हुई एक शाखा है। कुछ विद्वानों ने इसी प्रकार समझाने की चेष्टा की है। यह संभव है कि शाक्तमार्ग शैव मार्ग का ही एक शाखा हो, परन्तु यह अनुमान का ही विषय है। जो तथ्य हमें उपलब्ध हैं उनके आधार पर हम निश्चितरूप से कह सकते हैं कि हमारे आलोच्यकाल में शाक्तमत शैवमत से अलग वैशिष्ट्य रखता है। 'कुञ्जिकामत तंत्र' की एक प्राचीन प्रति गुप्तकालीन लिपि में लिखी हुई मिली है। इसका अर्थ यह हुआ कि 'कुञ्जिकामत तंत्र' हमारे आलोच्यकाल के पूर्व विद्यमान था। संवत् ३०२ का लिखित 'परमेश्वरमत तंत्र' और उसी समय का 'महाकुन्तागना विनिर्यय तंत्र' प्राप्त हुआ है। वाग्भट्ट की पुस्तकों से शाक्तमत के पृथक् अस्तित्व का समर्थन होता है। शैव आगमों की ही भांति इन शाक्ततंत्रों में अद्वैत स्वर ही प्रबल है। संमोहन तंत्र (अध्याय ८) में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि शक्ति और नारायण एक ही हैं जो आदि नारायण हैं वे ही परम शिव हैं, वे ही निर्गुण ब्रह्म हैं। आद्या सतिता महाशक्ति ने ही श्रीकृष्ण और श्रीराम का पुरुष-विग्रह धारण किया था (अध्याय ९) और मूर्ख लोग ही राम और शिव में भेद देखते हैं। शैव और शाक्त दोनों ही छत्तीस तत्त्वों में विश्वास करते हैं। आगे चलकर शैवों में नाथ, कापालिक रसेश्वर आदि कई सम्प्रदाय हुए, जिनका तत्त्व ज्ञान थोड़ा बहुत भिन्न है, परन्तु सर्वत्र मूलस्वर अद्वैत-प्रधान है। 'कौलावलि-निर्यय' (२१ अध्याय) में शैव पद, विष्णुपद,

हंसपद, निरंजनपद और निरालम्बन पद को एक ही परम पद का नामांतर बताया गया है<sup>१</sup> ।

‘सम्मोहन तंत्र’ में बाईस भिन्न भिन्न आगमों का उल्लेख है, जिनमें चीनागम, पाशुपत, पांचरात्र, कापालिक, भैरव, अघोर, जैन और बौद्ध आगमों की भी चर्चा है। उस समय ये सभी मत प्रचलित रहे होंगे। बौद्ध तंत्र की तो अनेक बातें प्रकाशित हुई हैं, पर जैन मत के तंत्र अभी तक प्रकाशित नहीं हुए हैं। हेमचन्द्र के ‘योगशास्त्र’ आदि ग्रंथों से अनुमान किया जा सकता है कि हमारे आलोच्यकाल में जैनमत में भी निश्चय ही तंत्रों का प्रचार रहा होगा।

इस काल की समाप्ति के आसपास ही परम शक्तिशाली ‘भागवत पुराण’ का अभ्युदय होता है। उत्तर कालीन धर्ममत और साहित्य को इस पुराण ने अधिक प्रभावित किया है। इस काल का दूसरा महत्वपूर्ण ग्रंथ ‘श्री भाष्य’ है। इन दोनों ग्रंथों का प्रभाव उत्तरकालीन वैष्णव सम्प्रदायों पर बहुत अधिक पड़ा है। आगे चलकर पांचरात्र संहिताओं, विष्णुपुराण और ‘श्री भाष्य’ का आश्रय लेकर एक वैद्य मार्गी वैष्णव साधना विकसित हुई और दूसरी रागानुग मार्गी या आवेश और उल्लासमय भक्ति मार्गी साधना ‘भगवान’ का आश्रय लेकर विकसित हुई। उत्तरकाल के अक्षय और चैतन्य सम्प्रदाय ‘भागवत’ को परम प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं। ‘भागवत पुराण’ भीकृष्ण के प्रेममूलक भक्ति धर्म का प्रतिपादक है इस पुराण के अनुसार भीकृष्ण साक्षात् भगवान् हैं और अन्य अवतार अंशकला मात्र हैं। भगवान् के दो रूप हैं—निरवच्छिन्न चैतन्य निराकार रूप

<sup>१</sup>. पुस्तक्याः परतः परात्परतरं निर्वाणशब्देः पदम् ।

शैवं शारवतमममेयममर्षं नित्योदितं निश्चिन्तयम् ।

सद्विष्णोः पदमित्युशस्ति सुधियः केचित्पदं ब्रह्मणः ।

केचिद्वंसपदं निरंजनपदं केचिन्निरालम्बनम् ॥

—कौ शावलि निर्णय, पृष्ठ १४० ।

और सत्तावल्लिखित चैतन्यसाकार रूप । आगे चलकर 'भागवत' और संहिताओं के इन दो उत्सों से चार वैष्णव सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ । ये चार हैं— श्री वैष्णव, ब्रह्म, रुद्र और सनक । श्री वैष्णव मत के आचार्य रामानुज विशिष्टाद्वैत मत के, ब्रह्म सम्प्रदाय के आचार्य मध्व ( आनंद तीर्थ ) द्वैत के, रुद्र सम्प्रदाय के आचार्य विष्णुस्वामी और उनके अनुयायी बल्लभाचार्य शुद्धाद्वैत के और सनक सम्प्रदाय के आचार्य निवार्क द्वैताद्वैत मत के प्रवर्तक हैं । चैतन्य सम्प्रदाय यद्यपि मध्वमत की ही शाखा है पर उसका अपना विशाल साहित्य है और उसके तत्त्ववाद का नाम अचिन्त्य भेदाभेदवाद है । इस उत्तरार्धकाल की विशेषता है सम्प्रदायों प्रौढ़ संघटन । भारत वर्ष में शायद ही इतने संघकक्षरूप में सम्प्रदायों का कभी आधिर्भाव इससे पहले हुआ हो ।

दक्षिण में जब इस भक्ति मूलक वैष्णवधर्म का अभ्युदय हो रहा था तब उत्तर में एक शक्तिशाली योगमत का प्रादुर्भाव हुआ । उसकी कहानी कई बिना हमारे आलोच्यकाल का इतिहास अधूरा ही रह जाएगा । आगे चलकर इस योग मार्ग का सर्वप्रथम भक्तिमार्ग के साथ हुआ और कबीरदास के द्वारा दोनों के समन्वय से एक नवीन साधना-मार्ग का प्रादुर्भाव हुआ । यह बटना हमारे आलोच्यकाल के बाव की है इसलिये उसकी चर्चा यहाँ नहीं की गई ।

## ८. कापालिक मत

ऐसा जान पड़ता है कि अन्योन्य तांत्रिकों की भाँति कापालिक लोग भी विश्वास करते थे कि परम शिव शैव हैं। उपास्य हैं उनका शक्ति और तदुक्त अपर या सगुण शिव। इसी बात को लक्ष्य करके देवी भागवत में कहा गया है कि कुण्डलिनी अर्थात् शक्ति से रहित शिव भी शिव के समान (अर्थात् निष्क्रिय) हैं—‘शिवोऽपि शिवतां याति कुण्डलिन्या विवर्जितः।’ और इसी भाव को ध्यान में रखकर शंकराचार्य ने सौंदर्य लहरी में कहा है कि शिव यदि शक्ति से युक्त हो सभी कुछ करने में समर्थ है नहीं तो वे हिल भी नहीं सकते—

शिवः शक्त्यायुक्तो यदि भवतिशक्तः प्रभावितुं ।

न चेदेवं देखो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि ॥

तांत्रिक लोगों का मत है कि परम शिव के न रूप है न गुण और इसीलिए उनका स्वरूप-लक्षण नहीं बताया जा सकता। जगत् के जितने भी पदार्थ हैं वे उससे भिन्न हैं और केवल ‘नैतिनैति’ अर्थात् यह भी नहीं, वह भी नहीं, ऐसा ही कहा जा सकता है। निर्गुण शिव ( पर शिव ) केवल जाने जा सकते हैं, उपासना के विषय नहीं हैं। शिव केवल शैव हैं। उपास्य तो शक्ति हैं। इस शक्ति की उपासना के अहाने भवभूति ने कापालिकों के मुख से शक्ति के कीड़न और ताण्डव का बड़ा शक्तिशाली वर्णन किया है। शक्तियों से वेष्टित शक्तिनाथ की महिमा वर्णन करने के कारण यह अनुमान असंगत नहीं जान पड़ता कि कापालिक लोग भी परम शिव को निष्क्रिय निरञ्जन होने के कारण केवल ज्ञानमात्र का विषय (शैव) समझते हों।

वस्तुतः दसवीं शती के आसपास लिखी हुई एक-दो और पुस्तकों में भी शैव कापालिकों का जो वर्णन मिलता है वह ऊपर की बातों को पुष्ट ही करता

है। प्रबोध चन्द्रोदय नामक नाटक में सोमसिद्धांत नामक कापालिक का वर्णन है। कहा गया है कि वे मद्यपान करते हैं, स्त्रियों के साथ विहार करते हैं और सहज ही मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।<sup>१</sup> इसमें कोई संदेह नहीं कि नाटककार ने इनके मत को जैसा समझा था वैसा ही चित्रित किया है। इन चित्रणों को हमें उचित सतर्कता के साथ ही ग्रहण करना चाहिए। कापालिकों के सर्वत्र में जनसाधारण की जैसी धारणा थी उसी का चित्र इन नाटकों में मिलता है। सर्वत्र ये कापालिक शैव समझे गए हैं। इसी प्रकार पुष्पदंत विरचित महापुराण में अनेक स्थलों पर कापालिकों और कोलाचार्यों का उल्लेख है। सर्वत्र उन्हें शैव योगी माना गया है और सर्वत्र उनके मद्यपान का उल्लेख है। परन्तु बौद्ध कापालिक मत का कोई उल्लेख योग्य वर्णन नहीं मिलता। भवभूति के मालती माधव नामक प्रकरण से पता चलता है कि सौदामिनी नामक बौद्ध-भिक्षुणी भी पर्वत पर कापालिक साधना सीखने गई थी। मालती-माधव से जान पड़ता है कि यह कापालिक साधना शैव मत की थी। श्री पर्वत उन

१. मन्तो य मन्तो य क किं पि ज्ञाये,

कायं च यो किं पि पुरुषसादा ।

मज्जं पिबामो मदिरां रमानो,

मोक्षं च जामो कुलसमाप्तमा ॥

एषा अपरा दिविक्षावा धम्मादारा,

मज्जं मसं पिज्जं जज्जं च ।

मिक्षा मोज्जं चम्मखं च सेजा,

कोलो भम्मो कस्स यो भोदि रम्मो ॥

मुत्तिं भयन्तिं हरिं ब्रह्ममुखादि देवा,

कायेयं वे अपठयेयं कटुविक्रमाय ।

एककेय केवलमुसाद्वहणं दिट्ठो,

मोक्खो समं सुरक्केलि सुरास्सेहि ॥

कपूर मंजरी १।२२—२३

दिनों का प्रसिद्ध सांनिक पीठ था। वज्रवान का उत्पत्ति स्थान भी उसे ही समझा जाता है। ऐसा जान पड़ता है कि उन दिनों श्री पर्वत पर शैव, बौद्ध और शाक्त साधनाएँ पास ही पास कल फूल रही थीं।

बाणभट्ट ने कादम्बरी और हर्ष चरित में श्री पर्वत को शाक्ततंत्र का साधनपीठ बताया है। हमारे पास इस समय जालंधर-पाद और कृष्णपाद का जो भी साहित्य उपलब्ध है वह सभी वज्रयानियों की मध्यस्थता में प्राप्त हुआ है, यह तो निश्चित ही है कि परवर्ती शैव सिद्धों ने जालंधर और कानपा दोनों को अपनाया है। इसीलिए यह कह सकना कठिन है कि जिस रूप में यह साहित्य हमें मिलता है वही उसका मूल रूप है या नहीं। किन्तु इस उपलब्ध साहित्य से जिस मत का आभास मिलता है वह निस्संदेह नाथ मार्ग का पुरोवर्ती होने योग्य है। यहाँ यह बात उल्लेख योग्य है कि कानिपा सम्प्रदाय को अब भी पूर्णरूप से गोरखनाथी सम्प्रदाय में नहीं मना जाता। इनका प्रवर्तित कक्षा जानेवाला एक उपसम्प्रदाय वामारण (= वाम मार्ग) आज भी जीवित है।

## ६. जैन भरमी

आठवीं-नवीं शताब्दी में एक प्रसिद्ध जैन भरमी संत हो गए हैं। उनकी अपभ्रंश की रचनाओं में वे सभी विशेषताएं पाई जाती हैं जो उस युग के बौद्ध, शैव, शाक्त आदि योगियों और तांत्रिकों के ग्रंथ में प्राप्त होती हैं। वादयाचार का विरोध, चित्तशुद्धि पर जोर देना, शरीर को ही समस्त साधनाओं का आधार समझना और समरसी भाव से स्वसंवेदन आनंद का उपभोग—जिससे जीव निष्कृच्छ्र होकर शिव हो जाता है—उस युग की साधना की विशेषताएं हैं। अत्यन्त कष्टर जैन साधक भी भिन्न मार्ग से चलते हुए इसी परमसत्य तक पहुँचे थे। अगर उनकी रचनाओं के ऊपर से 'जैन' विशेषण हटा दिया जाय तो वे योगियों और तांत्रिकों की रचनाओं से बहुत भिन्न नहीं लगेंगी। वे ही शब्द, वे ही भाव, और वे ही प्रयोग घूम फिरकर उस युग के सभी साधकों के अनुभवों में आया करते हैं। जब जैन साधक जोइन्दु कहते हैं कि देवता न तो देवालय में है, न शिक्षा में, न र्चन प्रभृति क्षेत्र्य पदार्थों में और न ध्वज में—वह अक्षय निरंजन ज्ञानमय शिव तो सम चित्त में निवास करता है—

वेठण वेडले यावि सिलए,

यावि लिप्पइ ए वि चित्ति ।

अखय गिरजणु यायाधरणु,

सिड संठिड समचित्ति ॥

(परमात्मप्रकाश ६—१२६)

तो यह भाषा वस्तुतः उस युग के अभ्यान्व्य मतानुयायी साधकों की भाषा से भिन्न नहीं है। यह परम्परा भाव में कबीर आदि निर्गुण मत के साधकों में क्यों की क्यों चली आई है।

‘सामरस्य भाव’ उस युग की एक महत्त्वपूर्ण साधना है। सभी साधक मार्ग इस शब्द का व्यवहार करते हैं। उनके अलग अलग तत्त्ववाद हैं। उन्हीं से इन व्याख्याओं का पोषण होता है। पर परिणाम में व्यवहारतः सब एक हैं। शिव और शक्ति के विसर्गभाव से ही, शक्त और शैव साधना के अनुसार यह सृष्टि-प्रपञ्च है। शिव की आदि सिसृक्षा ही शक्ति है। सिसृक्षा अर्थात् सृष्टि की इच्छा। इच्छा अभाव का प्रतीक है। इसीलिये सृष्टि ‘निषेध व्यापार-रूपा’ है। सभी तक ये द्वन्द्व हैं जब तक शिव और शक्ति का मिलन नहीं हो जाता। सौभाग्य भास्कर में (पृष्ठ १६१) इसलिये शिव और शक्ति के मिलन को, उनके न्यूनधिकत्व के अभाव को सामरस्य कहा है। पिएड में मन का जीवात्मा में तिरोभूत हो जाना या एकमेक होकर मिल जाना ही यह सामरस्य है। जैन साधक जोहन्दु ने भी कहा है कि मन जब परमेश्वर से मिल जाता है और परमेश्वर जब मन से तो दोनों का समरसीभाव अर्थात् सामरस्य हो जाता है। इस अवस्था में साधक को पूजा और उपासना की आवश्यकता नहीं रहती। यह परम प्राप्तव्य को पा जाता है और फिर पूज्य-पूजक संघर्ष समाप्त हो जाता है; क्योंकि जब जीव और परमात्मा में कोई भेद ही नहीं रहा तो कौन किसकी पूजा करे :

मणु मिलिषउँ परमेसरहँ,

परमेसरड वि मण्यस्तु ।

बेहि वि समरस हुआहँ,

पूज चहाअउं कस्त ।

(परमात्मप्रकाश १, १२१, २)

शक्त और शैव साधक मानते हैं कि चूँकि यह ज्ञान-सातृजेयरूपासृष्टि एक मात्र आदि शक्ति के कारण ही उत्पन्न हुई है, इसलिये इस समस्त परिदृश्यमान जगत् में मेरुदण्ड के समान सब कुछ में आधार रूप से यह शक्ति ही स्थित है। जो कुछ ब्रह्माण्ड में है वह सब कुछ पिएड में भी है। सत्व, रज, तम, काल और जीव के न्यूनत्व और अधिकत्व वश यह जगत् भिन्न-भिन्न पदार्थों के रूप में दिखाई देता है। मनुष्य के शरीर में जीवनी शक्ति का चरम



विकास हुआ है। शैव नायपंथी भी यही विश्वास करते थे। सिद्धसिद्धान्त संग्रह में इसीलिये कहा गया है कि ब्रह्माण्ड में जो कुछ है वह सब पिण्ड में वर्तमान रहता है —

ब्रह्माण्डवर्ति यत् किञ्चित् तत् पिण्डेष्वस्ति सर्वथा ।

(सि० सि० सा० ३।२)

समरसी भाव ही सार साधना है।

(मुनि रामसिंह पाहुड़ दोहा १७६)

इसी भाव को कबीरदास ने कहा है कि 'जो जो पिण्डे सोह ब्रह्मण्डे।' यह मानव वेह ही साधना का सर्वोत्तम उपादान है। देवता कहीं बाहर नहीं है। नाना प्रकार की साधनाओं से जीव इसी पिण्ड में बिलगमान शिव के साथ अपना अभेद संबंध जोड़ सकता है। उस समय उसके मन से भेद बुद्धि एकदम तिरोहित हो जाती है। इसीलिये नाना भौतिक योगिक क्रियाओं से चित्तशुद्धि अपेक्षित है। जोइन्दु ने भी इसी चित्तशुद्धि पर जोर दिया है

ओहव शिख मखि शिम्मलए,

पर हीसह सिब सन्दु ।

अम्भरि शिम्मले पथ रहिए

भाणु बि जेम कुणन्दु ।।

(प० प्र० १।११६)

—हे योगी, अपने निर्मल मन में ही शांत शिव का दर्शन होता है। निर्मल बन रहित आकाश में ही सूर्य चमकता है। सो, यह शिव कहीं बाहर नहीं है।

शाक्त साधक के मत से ब्रह्माण्ड में जो शक्ति है वही व्यक्ति शरीर में स्थित होकर कृष्णलिनी है। शिव सहस्रार में रहते हैं। कृष्णलिनी शक्ति को उद्बुद्ध करने से मन स्थिर होता है। और कृष्णलिनी शक्ति उद्बुद्ध होकर परम शिव से सब मिलती है तो वह समरस भाव उत्पन्न होता है जो साधक या अन्तिम लक्ष्य है। नाथ मत के साधकों का विश्वास है कि इस अवस्था में पिण्ड और ब्रह्माण्ड का भेद जाता रहता है और साधक उस स्वर्णवेदन रस का अनुभव करता है जिसके आगे और किसी रस की स्पृहा नहीं रह जाती—

समरसकरणं वदाम्यथाह परमपदाखिल पिण्डयोरिदानीम् ।

यदनुभववलेन योगनिष्ठा हतरपवेषु गतस्पृहा भवन्ति ॥

( सिद्ध सिद्धान्त सार ७, ५, १ )

जठरावर संहिता में इसी अवस्था के लिए कहा गया है कि इसमें मन, बुद्धि संवित्, उहापोह, तर्क वितर्क सब कुछ शांत हो जाते हैं—

यत्र बुद्धिर्मनोनास्ति सत्ता संवित् पराकला ।

उहापोहो न तर्कश्च बाधश्च तत्र करोति किम् ॥

और बौद्ध साधक साहपाद ने इसी अवस्था के लिये कहा है—इस अवस्था में मन और प्राण उपरतवृत्ति हो जाते हैं । हवा और पिंगला की गति रुक जाती है, न इसमें आदि अंत का व्यापार रहता है, न जन्म मरण का भय और न अपने पराए का ज्ञान; यही परम महासुख है—

अहि मन पवन न संवरह रवि शशि याहि पवेश ,

तहि बड चित्त विशाम कह सरह कहिय उवेश ।

आह न अंत न मउभयहु, याहु भव याहु विभ्रम,

एहु सो परम महासुह, सुहु पर याहु अप्याय ।

जैन साधकों के शास्त्रों में परमात्मा का यही अर्थ नहीं है, जो शैव या अन्य वैदिक मतानुयायी साधकों के ग्रंथों में प्रकट है । जैन साधक अगणित आत्माओं में विश्वास करते हैं । ये आत्मा मुक्त होने के बाद परमात्मा हो जाते हैं । परमात्मा अगणित हैं, परन्तु उनके गुण एक से हैं, इसलिये वे 'एक' कहे जा सकते हैं । यह पद ज्ञान से प्राप्त होता है और ज्ञान का साधन चित्त शुद्धि है । वस्तुतः चित्त-शुद्धि के बिना मोक्ष नहीं हो सकता । चाहे जीव जितने तीर्थों में नहाता किरे और जितनी तपस्या करता किरे, मोक्ष तभी होगा जब चित्त शुद्ध हो । जोहन्दु कहते हैं—

अहिं भावइ ताहें जाइ जिय, जं भावइ करि तजि ।

केमइ मोक्ष ए अत्थि पर, चित्तइ शुद्धि यां जं नि ।

( परमात्मप्रकाश २, ७० )

—हे जीव, जहाँ खुशी हो जाओ और जो मर्जी हो करो, किन्तु जब तक चित्त शुद्ध नहीं होता तब तक मोक्ष नहीं मिलेगा। वान करने से भोग मिल सकता है, तप करने से इन्द्रासन भी मिल सकता है, पर जन्म और मरण से विवर्जित पद पाना चाहते हो तो ज्ञान ही से हो सकता है—

दायि लम्भइ भोज पर इन्दसगु वि तषेय  
जम्भय मरण विवर्जित, पङ्कजम्भय णायेण ।

( प० प्र० १, ७२ )

जब यह मोक्ष प्राप्त हो जाएगा तो जीव ही परमात्मा हो जाएगा। इस मत से शैव शाक्त आदि साधकों के तत्त्वाद से मौनिक अंतर है। परन्तु व्यवहार में विशेष अंतर नहीं पड़ता। शाक्त साधक भी यही कहता है कि यह जीव ही शिव है; क्योंकि अब तक शिव नाना मलों से अच्छन्न है, सभी तक वह शरीर के कंचुक में आबद्ध है। इस कंचुक से मुक्त होते ही जीव शिव हो जाता है। इसीलिये 'परशुरामकल्पसूत्र' में कहा गया है—

शरीरकंचुकिता शिषो जीवः निर्कंचुकः परम शिवः ।

(परशुराम कल्प १, ५)

ज्ञान से ही यह कंचुक दूर होता है और वह सामरस्य भाव प्राप्त होता है जिसमें समस्त इन्द्रिय और इन्द्रियार्थ तिरोहित हो जाते हैं और आत्मा आकाश की भाँति - शून्य की भाँति अपने आप ही में रम जाता है। यही स्वसंवेदन रस है। इसमें पाप और पुण्य का विलय हो जाता है। उस अवस्था में साधक शिव रूप हो जाता है। उस समय जैसा कि अवधूत गीता में बताया गया है, साधक 'ज्ञानासृत समरसं गगनोपमोऽहम्' हो जाता है। यह शून्य रूप साधना या निषिकल्पक समाधि जिसमें आत्मा के अतिरिक्त और किसी का अस्तित्व नहीं रह जाता और समस्त प्रकार के भोक्तृ-भोग्य अनुभवों से स्वतंत्र एक स्वसंवेदन—अपने ही अपने को जानने का—रस अनुभूत होता है, उस रस के साधकों में समान रूप से पाया जाता है। जो इन्दु ने उल्लासपूर्वक कहा है—बलिहारी है उस योगी की जो 'शून्य पद' का ध्यान करता है, जो 'पर'—

परमपुरुष परमात्मा—के साथ समरसीभाव का अनुभव करता है, जो पाप और पुण्य के अतीत हो जाता है—

सुण्णं पउं भायंताहं बलि बलि जोहयिहाहं ।

समरसि भाउ परेण सहु पुण्णु वि पाउण जाहं ।

( प० प्र० २, १५६ )

ब्रह्मदेव ने अपनीवृत्ति में 'पर' शब्द का अर्थ 'स्वसंवेद परमात्मा' किया है । जोहन्दु पाप और पुण्य के अतीत उस महायोगी पर बार बार बलि गए हैं, जो उजाड़ को बसाता है, और बस्ती को शून्य करता है—

उण्णस अशिया जो करह बशिया करह खु सुण्णु ।

बलि कियहं सहु जोहयहिं, नासु य पाउ य पुण्णु ॥

गुरु गोरक्षनाथ ने भी कुछ इसी स्वर में उस महायोगी की वंदना की थी, जिसने बस्ती को उजाड़ दिया, और उजाड़ को बस्ती बनाया है—जो धर्म और अधर्म से परे है, पाप और पुण्य से अतीत है ! काम क्रोध आदि विकारों की रंगस्थली यह कामा ही सांसारिक दृष्टि से बस्ती है । इसे छोड़कर जब योगी का चित्त उस शून्य निर्जन स्थान पर पहुँचता है जहाँ समस्त इन्द्रियार्थ तिरोहित हो जाते हैं तो योगी वस्तुतः उजाड़ को बसाता है—

कामक्रोध विकारभारभरितं पिण्डं जहात्यात्मना,

शून्ये व्योम्नि निरंजने च नियतं चित्रं दधात्यादरात् ।

इत्थं शून्यमशून्यतां नयति यो पूर्णं च सच्छून्यताम्,

धर्माधर्मविषयजितं तमनिशं धेवे परं योगिनम् ॥

वस्तुतः जैन साधक जब कहता है कि यह जीव ही परमात्मा है शरीर में ही उसका वास है, वह केवल यह है जो शास्त्रों को पढ़ता हुआ भी इन बातों को नहीं समझ सकता, तो शैव या वैष्णव साधकों की हो भाषा में बोलता है—

सत्यु पढंनु वि होह जहु, ओ य इयोह विगण्णु

देहि वसन्तु वि शिम्मलउ, यवि मण्णह परमण्णु ॥

परिणाम में यह मुक्त आत्मा बहुत-से परमात्माओं में से एक होकर रहेगा या किसी एक ही परमात्मा में मिल जाएगा, यह साधारण जनता के लिये विशेष महत्त्व नहीं रखता साधारण जनता मुक्ति तक की बात सोचती है। सो उस युग के सभी साधक नाना मार्गों से चलकर एक ही परम सत्य तक पहुँचे थे। यह परम सत्य यह है कि यह शरीर ही परमात्मा का आवार है, देवता कहीं बाहर नहीं है, विविध भाव से विषयीभूत तत्त्वों का सागरस्य ही वह स्वसंवेदन रस है जिसके अनुभव से बढ़कर आनंद दूसरा नहीं है। आत्मा इसी स्वसंवेदन रस का अनुभव करके अपने परम-प्राप्तव्य को पा जाता है। वह जो चेला चेलियों का ठाट-वाट है, पोथियों का ढाई है, इनके चक्कर में पड़ा हुआ जीव—निस्संदेह प्रसन्न होता है; परन्तु यह मोह है, परमपद का अन्तराय है। जो ज्ञानी है वह इनसे लज्जित होता है -

चेहला चेली पुत्थियहिं,

नूतन मूढ़ भिभन्तु ।

एवहिं लज्जह गणियउ,

बंघह डेउ मुण्णु ॥

( प० प्र० '२।५८ )

श्री रामचन्द्र जैन शास्त्रमाला में परमात्मप्रकाश और योगसार सुप्रसिद्ध विद्वान् नेमिनाथ आदिनाथ उपाध्याय द्वारा संपादित होकर निकले हैं। दोनों ही ग्रन्थ जोहन्दु के लिखे हुए हैं, प्रो० हीरालाल जी जैन ने इसके पूर्व ही रामसिंह के पाहुड़ दोहों का प्रकाशन किया है।

## १०. धर्मशास्त्र और धर्म-साधना

मध्ययुग के धार्मिक साहित्य को दो प्रकार से विभक्त करके विचार किया जा सकता है। स्मृतियों, उनकी टीकाओं, पुराणों और निबंधों का साहित्य पुराने ज़माने से ही 'धर्मशास्त्र' कहा जाता रहा है। फिर एक दूसरे प्रकार का साहित्य है जो साधकों के परम पुनर्धार्य प्राप्ति की प्रक्रियाओं को बताते हैं। इनमें तन्त्र हैं, योग के ग्रन्थ हैं, भक्ति की पुस्तकें हैं और पुराणों के वे अंश हैं जो इन्हीं बातों की चर्चा करते हैं। मैंने सुविधा के लिये इस प्रकार के साहित्य का नाम 'धर्म-साधना' का साहित्य रख लिया है। यद्यपि यह नाम सुभोते के लिये ही रखा गया है पर यह बहुत दूर तक सार्थक भी है क्योंकि इस श्रेणी का साहित्य व्यक्ति की साधना का ही सहायक है। धर्मशास्त्र सामाजिक आचार-विचारों और विधि-निषेधों की व्यवस्था करते हैं, वर्यों और आश्रमों के सामान्य और विशेष कर्तव्यों का निर्देश देते हैं, अन्तर्वैयक्तिक संबंधों के कर्तव्य द्वन्द्व की मीमांसा करते हैं जबकि धर्मसाधना-वाले ग्रंथ साधक के प्रतिपाल्य नियमों और अनुष्ठानों का विधान करते हैं, साधना के विविध स्तरों में कैसे अनुभव होते हैं और उनसे साधना-मार्ग में अग्रसर होने के या पिछड़ जाने के कौन से लक्षण प्रकट होते हैं, इसकी विवेचना करते हैं। कभी-कभी धर्मशास्त्र और धर्म-साधना-साहित्य एक दूसरे से इस प्रकार उल्लंघन हुए मिलते हैं कि उनको अलग करना कठिन होता है। पर साधारणतः मध्य-युग का ग्रन्थ हिन्दू धर्मशास्त्रीय मार्ग का अनुसरण करता था और विशेष-विशेष मार्ग के साधक तत्तत् संप्रदाय या मार्ग के साधना-ग्रंथों के निर्देश पर चलते थे। साधारण ग्रन्थ विविध तीर्थों में स्नान करने से पुण्यार्जन होने में विश्वास करते थे, घर्णाश्रम व्यवस्था में आस्था रखते थे, अतों और उपवासों में विश्वास पोषण करते थे स्वर्ग-नरक, पुनर्जन्म, कर्मफल, पितृभार आदि में पूर्णभ्रमा रखते थे और मंगलकामना से सभी देवताओं और अपदेवताओं

की पूजा किया करते थे। इस तीर्थ व्रत-उपवास प्रधान, जाति-वर्ण विश्वासी, सर्वदेवोपासक मत को एक शब्द में 'स्मार्त मत' कहते हैं। स्मार्त मत अर्थात् स्मृति-निर्दिष्ट धर्म-व्यवस्था को पालन करने में कल्याण मानने वाला मत। इस प्रकार का मत कोई नई बात नहीं है। महाभारत काल में भी गृहस्थों का जो वर्णन है उससे कुछ इसी प्रकार के गृहस्थों का पता चलता है। महाभारत में भागवतों के परम उपास्य श्रीकृष्ण भी शंकर की स्तुति करते बताए गए हैं। फिर भी इन दिनों का प्रचलित विश्वास यह है कि इस स्मार्त मत की पुनः प्रतिष्ठा शंकराचार्य ने की थी। उन्होंने ही पञ्चदेवोपासना की पद्धति चलाई। जो हो, स्मार्त मत का सीधा अर्थ है स्मृतियों की व्यवस्था को मानने वाला मत। पुराण और महाभारत को भी स्मृतियों में गिना गया है। इसलिये यह कहा जा सकता है कि स्मृति और पुराण मुख्यतः गृहस्थों के सामाजिक और आन्तरिक संबंधों और कर्तव्यों के प्रतिपादक शास्त्र हैं इन्हींको 'धर्म शास्त्र' कहते हैं।

धर्म-साधनाओं को भी दो मोटे विभागों में बाँट लिया जा सकता है—योगमूलक-साधनाएं और भक्ति-मूलक साधनाएं। प्रथम श्रेणी की साधना में साधक का विश्वास अपने ऊपर होता है। इस शरीर को ही नाना भाव से आसन-प्राणायाम आदि के द्वारा संयत करके मन और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त किया जाता है यह विश्वास किया जाता है कि परम प्राप्तिव्य वस्तुतः इस शरीर से बाहर नहीं है। यह इसी में व्याप्त है। भक्तिमूलक साधना इससे भिन्न वस्तु है। ऐसा तो उसके अनुयायी भी मानते हैं कि परम प्राप्तिव्य शरीर के भीतर ही है पर इस बात पर वे बहुत अधिक जोर नहीं देते। भक्तिमूलक साधना का साधक वस्तुतः अपने आप पर कम और अपने परमात्मा प्रेममय परमात्मा पर अधिक विश्वास करता है। अपने आपको अत्यन्त दुर्लभ समझकर परम प्रेममय भगवान् को संपूर्ण रूप से आत्म समर्पण भक्ति की पहली शर्त है। अपने को निःशेष भाव से भगवान् के चरणों में उत्सर्ग कर देने का नाम ही भक्ति है। राजनीति की परिभाषा में समझना चाहे तो योगमार्ग गणतान्त्रिक धारणा की उपज है और भक्ति-मार्ग साम्राज्यवादी मनोवृत्ति की

देन है। भारतवर्ष में इन दोनों साधनाओं के बीच बहुत पुराने हैं पर मध्ययुग में वे कुछ विशेष हो गए हैं। क्या और कितना विशेष हुए हैं, यही विचार्य है।

पहले योगमूलक साधना की बात ली जाय भक्तिमूलक साधनाओं की चर्चा हम थोड़ा रुककर करेंगे। ऐसा विश्वास किया जाता है कि इस मनुष्य शरीर में—जो परम रहस्य का आगार है—कुछ अत्यन्त अद्भुत शक्तिशाली बातें हैं। बहुत पुराने ज़माने से चार वस्तुएँ बहुत शक्तिशाली मानी जाती रही हैं—मन, प्राण, बिन्दु (शुक्र) और वाक्। मध्ययुग में कुण्डलिनी एक पाँचवीं वस्तु है जो अत्यन्त शक्तिशाली तत्त्व स्वीकार की गई है। इस प्रकार इस शरीर में ये पाँच बातें अनन्त शक्ति का स्रोत मानी गई हैं। इनमें से किसी एक पर भी यदि साधक अधिकार जमा ले तो बाकी सब अनायास वश में आ जाते हैं। इन्हींमें से किसी एक को अधिक और बाकी को कम महत्त्व देने के कारण विभिन्न योगमार्ग बने हैं। मन को वश में करने को प्रधान कर्तव्य बताने वाला योग राजयोग कहा जाता है, प्राण को प्रधान रूप से संयत करने को कर्तव्य प्रतिपादित करने वाला योग हठयोग कहलाता है, वाक् को संयत करने की विधि पर जोर देना वाला योग मंत्रयोग और जपयोग कहा जाता है, कुण्डलिनी को दृढ़बुद्ध करने को ही प्रधान कर्तव्य समझने वाला योग कुण्डली योग कहलाता है। शुक्र को संयत और विनियुक्त करने के अनेक मार्ग हैं जो विभिन्न प्रक्रियाओं के कारण विभिन्न नाम ग्रहण करते हैं। वज्रयानी और ऊर्ध्वरेता साधक इस महाशक्ति के विनियोग और संयम की विशेष विधियों पर जोर देते हैं। इस प्रकार यह मार्ग इस शरीर के भीतर ही परम सिद्धि का संधान खोजता है।

इस प्रकार की साधना का सबसे प्रथम आरंभ कब हुआ यह कह सकना बड़ा कठिन है। न तो यह मध्ययुग की अपनी विशेषता है और न वैदिक परम्परा की, बौद्ध और जैन जैसे वैदिक धर्म के विरोधी सम्प्रदायों में भी इसका मान है पाशुपत और वाममार्ग जैसे वैदिकेतर सम्प्रदायों में भी यह योग पद्धति गृहीत हुई है। मोहन-जो-दड़ो में ऐसी मूर्तियाँ मिली हैं



जिनके ध्यान स्तिमित नयन मुद्रा को देखकर पंडितों ने अनुमान किया है कि वहाँ की सभ्यता में—जो सम्भवतः आर्येतर सभ्यता थी—यह साधना अवश्य प्रचलित थी। योगमार्ग की ऊपर लिखी विशेषता को यदि ध्यान में रखकर विचार किया जाय तो मूल संहिताओं के धर्म से—जिसे कभी-कभी बहुप्रेष बाद कहा गया है,—यह बहुत भिन्न वस्तु है। मूल वैदिक संहिताओं का प्रधान धर्म इस शरीर के भीतर परम प्राप्तव्य को प्राप्त करने पर अधिक धोर नहीं देता। एक बार सरसरी निगाह से इस प्रधान धर्म को देखने का प्रयत्न कर लेना उचित होगा।

---

## ११. वैदिक देवतावाद से इस साधना का अन्तर

वेदों में प्रतिपादित धर्म का स्वरूप क्या है ? उसमें कितने ही लोगों ने अद्वैतवाद, कितनों ही ने एकेश्वरवाद और कितनों ही ने बहुदेववाद का संधान पाया असल में समूचे वैदिक साहित्य में कोई एक ही धार्मिक वा तत्त्व-ज्ञानान्मक एकरूपता नहीं है। यहाँ तक कि ऋग्वेद के १०१७ सूक्तों में भी किसी एक सामान्य मत का संधान पाना दुष्कर है। इन सूक्तों में अनेक ऋषियों के अनेक प्रकार के विचार प्रथित हैं, ऐसे भी स्थान हैं जहाँ स्पष्ट रूप से एकेश्वरवाद की दृढ़कंठ से बोधणा की गई है। बताया गया है कि एक ही महादेवता को ऋषियों ने नाना नाम से—अग्नि, यम, मानसिष्वा आदि कह कर—नाना भाव से बताया है ( ऋग् १.१६४-४६ ) फिर कहा गया है कि आरंभ में समस्त भूतों का अधिपति एक मात्र हिरण्य गर्भ ही था, उसीने सुलोक और भूलोक को धारण किया है और तीन दूसरा देवता है जिसे हम हविर्मा अपित करें ( ऋग् १०-१२१ )। इन तथा ऐसे ही मंत्रों में बड़ी दृढ़ता के साथ एक महादेवता की उपासना ही पर जोर दिया गया है पर इसमें सन्देह नहीं कि ऐसे मंत्र कम हैं। अधिकांश मंत्रों में अनेक देवताओं का उल्लेख मिलता है। साधारणतः देवताओं की संख्या सैंतीस बताई गई है। इनमें ग्यारह आकाश के ग्यारह पृथिवी के और ग्यारह जल के देवता कहे गए हैं ( ऋग् १. १६६. ११ )। इन देवताओं की पत्नियों की भी चर्चा मिल जाती है ( १. ६. ६. )। वैतान सूत्र (१५-६) में अग्नि की पत्नी पृथ्वी (पृथिवी), वात की वाक्, इन्द्र की सेवा वृहस्पति की वेना, पूषन् की पथ्या, वसु की गायत्री, रुद्र की त्रिष्टुम्, आदित्य की जगती, मित्र की अनुष्टुम्, वरुण की विराज्, विष्णु की पंक्ति और सोम की दीक्षा ये देवपत्नियाँ बताई गई हैं। इसमें तो कोई संदेह नहीं कि इनमें रूपकीय कल्पना स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रही है पर जो लोग मानते हैं कि तांत्रिक शक्ति कल्पना भारतीय धर्म-साधना में नहीं

चीज है उनके विचार के लिये इनमें प्रचुर सामग्री भी है। ऐसा ज्ञान पड़ता है कि ३३ देवताओं में सभी वैदिक देवता सम्मिलित नहीं हैं, क्योंकि अग्नि, सोम, मरुत्, अश्विनो, आर्यः, उषा, सूर्य आदि देवताओं का पृथक् उल्लेख भी है और कभी-कभी तो वैदिक कवि उल्लास की अवस्था में अत्युक्ति की पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है। वह तैंतीस देवताओं से सन्तुष्ट न होकर कहता है कि देवताओं की संख्या ३६३६ है (अग् ३. १. ६)। यह सब देखते हुए यही कहना पड़ता है कि वेदों में बहुदेववाद ही प्रधान धर्म है ।<sup>१</sup>

बहुदेववाद का मतलब क्या है ? यह शब्द अंग्रेजी के पालिथीज्म शब्द के ठीक पर गढ़ लिया गया है। अंग्रेजी में पालिथीज्म शब्द का अर्थ निश्चित हो गया है। इस शब्द से एक ऐसे देवता विधान का बोध होता है जिसमें बहुत से छुटे-बड़े देवता, जिनका पदगौरव और मर्यादा तथा छोटा-बड़ा भाव निश्चित हो चुका रहता है, एक महादेवता के अधीन होते हैं। ग्रीस का बहुदेवता-विधान ऐसा ही है। इसका बड़ा देवता जियस या जूपिटर है। मैक्समूलर ने बताया है कि इस ग्रीक विधान से वैदिक विधान का कोई साम्य नहीं है। केवल ग्रीक या रोमन देवता-विधान ही नहीं, वैदिक बहुदेववाद उराक-अलताई, या अमेरिकन आदिम अधिवासियों या अफ्रिकन आदिम अधिवासियों के देवता विधान से भिन्न है।<sup>२</sup> इस विधान का जो देवता जब उपासित होता है वही उस समय सबसे बड़ा देवता है। इन्द्र की उपासना के समय इन्द्र, अग्नि की उपासना के समय अग्नि और वरुण की उपासना के समय वरुण ही महादेवता है। यह एक प्रकार स्वतंत्र देवताओं का संघ है जब कि ग्रीक और रोमन पालिथीज्म एक बड़े सम्राट् के अन्तर्गत नाना मर्यादाओं के अधिकारी देवताओं का एक दरबार है। दोनों में बड़ा अन्तर है। मैक्समूलर ने इसीलिये पालिथीज्म शब्द को आत्मक बताया था और वैदिक बहुदेववाद के लिये एक नये शब्द के प्रयोग का सुझाव रखा था—यह शब्द

१. दे०. मैक्समूलर : क्लाट कैन् इण्डिया टीच अस, पृ० १४३-१४४

२. क्लाट कैन् इण्डिया टीच अस, पृ० १४२-४६

है—हेनोसीज्म<sup>१</sup> या एकैकदेववाद उदाहरणार्थ, मैक्समूलर ने बताया है कि किस प्रकार ऋग्वेद में यावापृथ्वी (= द्युलोक और भूलोक; आसमान और जमीन) को समस्त देवताओं को धारण करने वाला, सबके पिता माता कह कर स्तुति की गई है। बताया गया है कि आकाश और पृथ्वी के बीच में जो कुछ है वह सब यावा पृथिवी का है, ये समस्त देवताओं के धारण करने वाले हैं, परन्तु फिर यह भी बताया गया है कि इस दयावा-पृथिवी को इन्द्र ने बनाया है, इन्द्र ने ही उन्हें धारण किया है, इन्द्र के बल से ही ये बलीवान हैं केवल इन्द्र ही नहीं अन्य देवताओं के बारे में भी इस प्रकार के विशेषण का प्रयोग है दयावा पृथिवी के धारण करने वाले वरुण भी हैं, सूर्य भी हैं, आता भी हैं और विश्वकर्मा भी हैं। सो, इस देवताविधान को बहुदेववाद नहीं कहा जा सकता।

वस्तुतः वैदिक ऋषि प्रकृति के प्रत्येक तेजोमय रूप में एक प्रकार की वेश्मबुद्धि रखते हैं। यह जो कुछ चर्म-वस्तुओं से दिख गया वही चरम और परम नहीं है। इसके पीछे कुछ और है जो इसे तेज दे रहा है। नदी में जो प्रवाह-वेग है वह वही तक सीमित नहीं है, इस प्रवाह-वेग को बेगबती करने वाली कोई शक्ति है। दूध का भूयता देने वाला कोई अदृश्य तेजोधर्मा—देव—है। 'देव' वस्तुतः उस तेज और स्वयं देने वाले विशेषण का ही बोधक है। पश्चिमी साहित्य में बहुवचन में प्रयोग किए जाने वाले 'गार्ड' का निश्चित अर्थ है। वह रुढ़ हो गया है। परन्तु वैदिक ऋषि देव शब्द का प्रयोग इस प्रकार के किसी रुढ़ अर्थ में नहीं करता। वह प्रकृति के तेजोदत्त रूप से उल्लसित होता है और अपने उल्लास को किसी प्रकार की पूर्व-निर्धारित कल्पना से बाधित नहीं होने देता। वैदिक देवता विधान को बहुदेववाद नहीं कहा जा सकता, यह तो पश्चिमी पंडितों ने ही कहा है पर उससे एक व्यापक शक्तिवादी सत्ता का बोध होता है यह बात न जाने क्यों नहीं स्वाकार की जाती। आखिर प्रत्येक देवता का महादेवता मान लिया जाना तभी तो संभव है अब देवता-

देवता में भेद-बुद्धि का कहीं-न-कहीं किसी-न-किसी रूप में अभाव होता है ? कहीं-न-कहीं वैदिक मंत्र द्रष्टा के चित्त में यह बात छल्लर थी कि यह जो कुछ तेजोमय दिख रहा है वह किसी एक ही महासत्ता की शक्ति से शक्तिमान् होने के कारण कोई देवता बड़ा नहीं है, कोई देवता छोटा नहीं है, किसी की मर्यादा नीचे नहीं है। साक्षात्कार के समय जिसने ही साधक के चित्त में उल्लास का संचार किया वही बड़ा देवता है क्योंकि अन्ततोगत्वा सभी तो एक ही परम देवता के रूप हैं। यिद्वान् सोम उस एक का ही अनेकानेक नाम देकर बताते हैं:—एक सदिमा बहुधा वदन्ति वस्तुतः यदि इस प्रकार का कोई भाव ऋषियों के चित्त में न होता तो इस प्रकार के देवता-विधान की कल्पना भी संभव नहीं थी। हेनोथीज्म नाम दे देने से समस्या का समाधान नहीं हो जाता, उस मनोवृत्ति को समझने का प्रयत्न करना चाहिए जिससे ऐसे देवता-विधान की कल्पना उत्पन्न हो सकती है और ऊपर हमने जो-कुछ कहा है उससे भिन्न और क्या समाधान खोजा जा सकता है ?

सकत यह है कि वैदिक ऋषि यद्यपि एक प्रकार अद्वैत तत्त्व या 'एक' तत्त्व को स्वीकार करते हैं परन्तु उनका जोर बाह्य जगत् में व्याप्त अनन्त शक्तियों की ओर है जिन्हें वे देवता कहते हैं। इसी समय जब कि वे मंत्रलिखे जा रहे थे योग मार्ग भी अवश्य जीवित था जो इस मानव शरीर को ही समस्त शक्तियों का मूल उत्स मानता था। परवर्ती काल में उपनिषदों में यह विचार प्रधान होने लगा था कि सभी वैदिक देवता वस्तुतः मानव-शरीर के विविध इन्द्रियों के अविष्टाता हैं। इस प्रकार उपनिषदों के युग में योग मार्ग धीरे-धीरे प्रधान भारतीय विचार का रूप धारण करता आ रहा था। ऐसा जान पड़ता है कि वैदिक देववाद और योगमार्ग दो प्रकार की असमान परिस्थितियों में विकसित हुए थे और अन्त में एक दूसरे को प्रभावित करने में समर्थ हुए थे। योगमार्ग प्रधान रूप से गणतान्त्रिक व्यवस्था, वैराग्यवादी तपस्सुख और व्यक्तिव्य प्रधान दृष्टि की उपज है जब कि बहुदेववाद ऐसे समाज में सम्भव है जिसे विजय पर विजय प्राप्त करने के कारण जीवन उल्लासमय दीख रहा हो, जिसमें तेजस्वितः पूरी मात्रा में हो और साथ ही जिसमें

शशु-जनोचित ओत्सुक्य हो। कपराः इसमें सामन्ती भक्तोदृष्टि के चिह्न स्पष्ट से स्पष्टतर होते जाते हैं और विरोधी का उच्छेद काफी महत्वपूर्ण स्वर हो जाता है।

परन्तु हमारे अलौक्यकाल से इन बातों का बहुत दूर का संबंध है। केवल मूल स्वर को अधिक स्पष्ट करने के उद्देश्य से ही यहाँ इस प्रसंग की कुछ विस्तृत अवतारणा थी गई है। महाभारत काल में योगसाधना सुसंस्कृत भारतीय विचारधारा का प्रधान अंग हो गई थी और इस बात का निश्चित प्रमाण है कि मुद्ग-युग के साधकों का यह अति मान्य मत था।

---

## १२. योग-साधना की परम्परा

योग की यह साधना दीर्घकाल से चली आ रही थी। वह एकाएक नहीं आ गई। बुद्ध किसी ऐसे तत्त्व को नहीं मानते थे, जो सब समय बना रहता हो—शाश्वत हो। उनके मन में 'आत्मा' नामक कोई ऐसा तत्त्व नहीं है, जो सदा बना रहेगा। अश्वघोष ने एक बड़ा सुन्दर उदाहरण देकर इस बात को समझाया है जैसे दीपक जल में बुझ जाता है, तब न तो वह पृथ्वी में बुझ जाता है, न अन्तरिक्ष में समा जाता है; न इस दिशा में जाता है और न उस दिशा में; केवल तेल के क्षय हो जाने के कारण केवल शान्ति को प्राप्त हो जाता है। उसी प्रकार पुरुषात्मा व्यक्ति जब निर्माण को प्राप्त होता है, तो न तो वह आकाश में जाता है, न अन्तरिक्ष में; न दिशा में, न विदिशा में; क्लेशों के क्षय होने से वह केवल शान्ति पा जाता है।

“दीपो यथा निर्वृत्तिमभ्युपेतो  
नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्  
दिशं न काचिद् विदिशं न काचिद्  
स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्।  
एवं कृती निर्वृत्तिमभ्युपेतो  
नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्  
दिशं न काचिद् विदिशं न काचिद्  
क्लेशक्षयात्केवलमेति शान्तिम्।”

इस प्रकार इस शरीर में जो चेतन दिखने वाला तत्त्व है, वह तभी तक संसार-प्रपञ्च में पड़ा हुआ है, जब तक उसके क्लेशों का क्षय नहीं हो जाता। जगत् वस्तुतः दुःख-रूप है, इससे छुटकारा पा जाना ही परम काम्य वस्तु है। छुटकारा मिल जाने के बाद छूटा हुआ पदार्थ चिरकाल तक बना रहता है या नहीं, यह व्यर्थ का प्रश्न है। भारतवर्ष में दीर्घकाल से ऐसी साधना चली

आ रही है, जिसमें इस जगत् को दुःखरूप माना गया है और उससे छुटकारा—मुक्ति—पाने को मनुष्य जीवन का सबसे बड़ा लक्ष्य या पुरुषार्थ माना गया है। अधिकांश साधनाएँ यह विश्वास करती थीं कि छुटकारा वस्तुतः किसी ऐसे पदार्थ का होता है, जो छुटकारे के बाद बना रहता है—शाश्वत होता है। ऐसा जान पड़ता है कि पुराना योग-मत कुछ इसी प्रकार का था। सांख्य-मत भी बहुत पुराना है। योग का और सांख्य का तत्त्ववाद एक ही है। पातञ्जल-योग में ईश्वर को भी माना गया है, इसलिये सांख्य-मत से—जिसमें पुरुष अनेक माने गए हैं, पर ईश्वर की चर्चा नहीं है—‘सेश्वर सांख्य’ कह दिया जाता है। कपिलकृत कहे जाने वाले सांख्य-सूत्र परवर्ती हैं। सांख्य का तत्त्ववाद खयापक पुराना ग्रन्थ ईश्वर कृष्ण की ‘सांख्यकारिका’ बताई जाती है। पतञ्जलि ने योग मत और साधना को क्रमबद्ध दर्शन का रूप दिया था, उसका सत्यवाद सांख्य से बहुत भिन्न नहीं है। बहुत प्राचीनकाल से लोग सांख्य और योग का अभेद स्वीकार करते आए हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा था कि केवल बाल बुद्धि के लोग ही सांख्य और योग को अलग-अलग मत समझते हैं, परिणत लोग ऐसा नहीं मानते। सांख्य सत्यवाद का नाम है और योग उसका प्रक्रिया का।

पतञ्जलि ने कथ योगशास्त्र लिखा था, यह कुछ विवाद का विषय बन गया है। साधारण प्रसिद्धि यह है कि पतञ्जलि नाग थे और तीन शास्त्रों के कर्त्ता थे—व्याकरण महाभाष्य, पातञ्जल योगसूत्र और चरक संहिता। उन्होंने योगशास्त्र का प्रणयन करके चित्त के, व्याकरण शास्त्र की रचना करके वाक् के और चिकित्सा शास्त्र की रचना करके शरीर के मल को दूर किया था—‘योगेन चित्तस्य पदेन वाचो मलं शरीरस्य च वैद्यकेन’। यदि यह सत्य है कि ये तीनों शास्त्र एक ही नागमुनि का रचना हैं, तो कहना पड़ेगा कि यह अद्भुत प्रतिभाशाली व्यक्ति था। इनमें से किसी एक शास्त्र के रचयिता को भी अवतारी पुरुष कहा जा सकता है। पतञ्जलि ने योगशास्त्र को बहुत ही युक्ति-संगत और क्रमबद्ध दर्शन का रूप दिया है। कुछ लोग इन सूत्रों में क्षणिक विज्ञानवाद की आलोचना देखकर यह मानने लगे हैं कि योगसूत्र नागार्जुन के



वाद अर्थात् ईसा की तीसरी शताब्दी के पूर्वार्ध<sup>१</sup> में रचा गया था। दार्शनिक विज्ञानवादियों का प्रमुख सूत्रग्रन्थ 'लंकावतारसूत्र' है, जिसमें नागार्जुन की चर्चा है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि 'लंकावतारसूत्र' से भी नागार्जुन का समय पुराना है।<sup>१</sup> इस प्रकार पतञ्जलि को तीसरी शताब्दी में घसीटना बहुत अधिक युक्तिसंगत नहीं है; फिर भी इस मत का यहाँ उल्लेख कर देना उचित समझा गया है। विषय-वस्तु की दृष्टि से भी किसी-किसी पंडित ने तीनों पतञ्जलियों की अभिधता में संदेह प्रकट किया है।

जो हो, पतञ्जलि नामक आचार्य ने सन् ईस्वी के आरम्भ होने के कुछ दशर-वधर योगसूत्रों की रचना की थी। ये सूत्र योग-मार्ग के कमबद्ध तत्त्ववाद और साधना-मार्ग का बहुत ही सुन्दर परिचय देते हैं। जो कार्य आचार्य रामानुज ने भक्ति के आधारभूत सिद्धान्तों के लिए कोई हजार सवा-हजार वर्ष बाद किया, वही योग के लिये पतञ्जलि ने किया। इसके पूर्व यह मतवाद साधन-प्रक्रिया के रूप में विभिन्न सम्प्रदायों में प्रचलित था। वह धर्म-साधना अधिक और कमबद्ध दर्शन कम था। संभवतः सांख्य भी ईश्वर कृपण के पहले इसी प्रकार नाना धर्म-ग्रन्थों और आख्यान-ग्रंथों में मिलना पड़ा था। धर्म-साधना को कमबद्ध दर्शन का रूप इस देश में आज से कोई दो हजार वर्ष पहले मिलने लगा था। ऐसा क्यों हुआ? कुछ ऐसे सामाजिक और अन्य कारण अवश्य रहे, जिनके फल-स्वरूप धर्म-साधना कमबद्ध दर्शन का रूप बन गई, या दूसरे शब्दों में कहें, तो साधारण जीवन से छनकर उपरले स्तर के बुद्धिबुक्तिक लोगों की चीज़ बन गई। सामाजिक विचारों में कुछ ऐसा संघन

<sup>१</sup> दक्षिणापथ वेदव्यासं निष्ठुः श्रीमान् महावशाः

नागाह्वयः स नाम्ना तु सदसत् पञ्चकारकः ।

प्रकाश्य लोके महान् महायानमनुत्तम

आसाद्य भूमिं बुद्धिस्तं वास्पतेस्तौ सुखावतीम् ।

( लंकावतारसूत्र, पृष्ठ २८६ )

सुकर हुआ कि तत्त्ववाद का मकलन ऊपर उठ गया। जो तत्त्ववाद सम्पूर्ण जीवन में व्याप्त था, वह केवल बौद्धिक विवेचना का विषय बन गया। यह कोई नई बात नहीं है। ग्यारहवीं से चौदहवीं शताब्दी तक भक्ति के तत्त्ववाद का नवनीत इसी प्रकार ऊपर उठता रहा और विविध भक्ति-सम्प्रदायों की धर्म-साधना के मेरुदण्ड-रूप तत्त्ववाद क्रमवद्ध दर्शन का रूप धारण करते रहे। अठारहवीं शताब्दी के अन्त में कबीर-पंथियों ने भी अपने महान् गुरु की शिक्षाओं को क्रमवद्ध दर्शन का रूप देना चाहा। गोस्वामी तुलसीदास का अत्यन्त मनोमुग्धकर काव्य भी परवर्ती काल में क्रमवद्ध दर्शन पाने का प्रयास हुआ; पर लोक-चित्त से वह इतना डलझा हुआ था कि उसका तत्त्ववाद का प्रयास बहुत सफल नहीं हो सका। महाप्रभु चैतन्यदेव के तिरोधान के बहुत थोड़े अर्से में ही उनका सम्प्रदाय 'अचिन्त्य मेदाभेद' नामक अभिनव दर्शन का अधिकारी हुआ कहते हैं कि वृन्दावन के वैष्णव पंडितों की किसी सभा में जब ललकारा गया कि चैतन्य-मत का कोई अपना बाद या भाव्य हो, तो बताओ, तो पलदेव विद्याभूषण ने एक दिन की सुहलस लेकर रातों रात भाव्य तैयार कर दिया। इस कहानी से इतना तो पता चल ही जाता है कि इस प्रकार का प्रयत्न बुद्धिजीवियों और अभिजात लोगों की स्वीकृति पाने के उद्देश्य से किया गया होता है।

धर्म-ग्रन्थों के आख्यानो से मुख्य-मुख्य सिद्धान्तों का संकलन करके जब क्रमवद्ध दर्शन का रूप दिया जाता है, तो उसके मूल में अभिजात-वर्ग का स्वीकृति-लाभ एक प्रधान कारण होता है। ऐसा जान पड़ता है कि ई० पू० की कुछ शताब्दियों में वैदिक और अवैदिक मतों का बड़ा घोर मंथन हुआ था और भिन्न-भिन्न साधन-मार्गों के अनुयायियों को अपने-अपने मत को क्रमवद्ध दर्शन का रूप देने की आवश्यकता पड़ी थी। विविध सूत्र ग्रंथों ने उस आवश्यकता की पूर्ति की। साथ ही ऊपर-ऊपर तत्त्ववाद के बौद्धिक विवेचन का विषय हो जाने पर भी कम बुद्धिबलित लोग तत्त्ववाद-विहित साधना-प्रणाली से या तत्त्ववाद के आख्यानारम्भक धर्म ग्रंथों से अपना काम चलाते रहे। विविध पुराणों में विभिन्न दर्शनों के रूप प्राप्त होते हैं—वैदिक

मतों के भी और बौद्ध, जैन आदि अवैदिक मतों के भी। इन पुराणों और आख्यान-ग्रंथों को संख्या बहुत है। प्रायः सभी सूत्र-ग्रंथ अपने पुराने पुस्तकर्त्ताओं का उल्लेख करते हैं। यहाँ प्रकृत यह है कि योग-दर्शन ने जब एक निश्चित बौद्धिक तत्त्ववाद का रूप धारण किया, तो लोक-जीवन में उसका केवल प्रक्रिया-प्रधान रूप रह गया होगा, जो कम बुद्धिवृत्तिक साधुओं में प्रचलित होगा और गृहस्था के लिये लिखे गए पुराणों और आख्यान-ग्रंथों में उसका वह पुगना रूप भी रह गया होगा, जो तत्त्ववाद और भक्ति तथा धर्म-साधना के मिश्रित रूप हुआ करते हैं। पातञ्जल-दर्शन बहुत ही सूक्ष्म और जटिल बौद्धिक शास्त्र के रूप में प्राप्त होता है। वह साधारण जनता की नहीं, बल्कि उपासक स्तर के बुद्धिवृत्तिक लोगों का दर्शन है। कम बुद्धिवृत्तिक लोगों में योग-मत का प्रक्रिया-प्रधान रूप बराबर बना रहा और मध्ययुग में (जब संस्कृत की चर्चा अधिकाधिक जनसम्पर्क से दूर पड़ती गई) उसने फिर देशी भाषाओं के माध्यम से आशम-प्रकाश किया। संस्कृत में भी इस युग में पुस्तकें मिली गईं; पर वे भी प्रधान रूप से प्रक्रिया-प्रधान ही थीं।

पातञ्जल योग-दर्शन में समूचे शास्त्रार्थ को चार भागों में विभक्त करके समझाया गया है—(१) हेय, (२) हेय हेतु, (३) हान और (४) हानोपाय। जितने दुःख हैं और उन दुःखों को उत्पन्न करनेवाले जितने पदार्थ हैं, वे सभी हेय अर्थात् त्याग-योग्य हैं। फिर भी मनुष्य इन दुःखों को स्वीकार करता है। क्या कारण है? शास्त्र ने इसका कारण अविद्या बताया है। वस्तुतः किसी वस्तु का यथार्थ रूप, गुण और परिणाम न जानने के कारण ही जीव उसे गलत समझता है। इस गलती के कारण ही स्वयं अपने-आपको उसका भोक्ता मान लेता है और उन वस्तुओं को भोग्य मान लेता है। यह जो भोक्ता-भोग्य-भावरूप संयोग है, वही हेय-हेतु है। इस संयोग का कारण अविद्या या गलत दृष्टि का जानकारी है। इसलिये वास्तविक हेय हेतु अविद्या को ही समझना चाहिए। अविद्या न हो, तो जीव हेय वस्तुओं को स्वीकार ही न करे, और हेय का स्वीकार न करे, तो उसे कोई दुःख भी न हो। इसलिये प्रधान समस्या है इस हेय-हेतु से छुटकारा पाना। कैसे छुटकारा मिले? स्पष्ट ही गलत जानकारी

से बचने का उपाय है सही जानकारी—ठीक ज्ञान, सही जानकारी अर्थात् विवेकलयाति जब जब जान जाता है कि आत्मा क्या है और अनात्मा क्या है, चित् वस्तु क्या है और अज् वस्तु क्या है, दुःख क्या है और दुःख से विरति क्या है, जब वह चित् और अचित् का ठीक-ठीक विवेक करने लगता है, तभी अविद्या उच्छिन्न होती है। अविद्या के उच्छेद से दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति होती है। यही हेय-हान है। यही योग का चरम प्रतिपाद्य है और इसीका उपाय भक्ताना शास्त्र का उद्देश्य है। हेय-हान का उपाय ही हानोपाय है। शास्त्र ने 'विवेकलयाति' के उपायों का विस्तृत विवेचन किया है जब तक विवेकलयाति नहीं हो जाती, तब तक विविध योगांगों का अनुष्ठान करना पड़ता है। योगांग आठ हैं—पाँच बहिरंग और तीन अन्तरंग। तप, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार—ये पाँच बहिरंग हैं और ध्यान, धारणा और समाधि—ये तीन अन्तरंग हैं। इन्हीं आठों के अनुष्ठान से चित्त शुद्ध होता है। समाधि सिद्ध होने से योगी चरम सिद्धि पा जाता है। योग ग्रंथों में इसके उपाय और महिमा दोनों की बहुत अधिक चर्चा है।

परन्तु मध्यकाल में लोक-भाषाओं में जो योग-संबंधी पुस्तकें लिखी गईं, उनमें हेय, हेय-हेतु, हेय-हान आदि की इतनी सूक्ष्म विवेचना नहीं की गई। मुश्किल से भूले-भटके इन शब्दों को स्मरण किया गया होगा। संस्कृत में भी इस काल में जो हठयोग की पुस्तकें लिखी गईं वे केवल प्रक्रिया ग्रंथ ही हैं। इनमें आसन, प्राणायाम आदि के अनेक भेदों और विधियों की प्रचुर चर्चा है, ध्यान-धारणा की भी चर्चा है; पर यह स्पष्ट नहीं बताया गया है कि इनसे विवेकलयाति किस प्रकार होती है और होने से अविद्या क्यों दूर हो जाती है। पातञ्जल-दर्शन विचार-प्रधान दर्शन-ग्रंथ है, जब कि मध्ययुग के हठयोगवाले ग्रंथ प्रक्रिया-प्रधान हैं। परन्तु ज्ञान-मार्ग का प्रभाव उन पर है। यदि उत्तर-मध्य-कालीन योग-ग्रंथों का विश्लेषण किया जाय, तो बाह्य योगांगों पर उनका ध्यान अधिक केन्द्रित मिलेगा। फिर इन पाँचों पर समान रूप से जोर नहीं मिलेगा। पातञ्जल दर्शन बाहरी और भीतरी इन्द्रियों के संयमन (वृत्ति-संकोचन) को 'यम' कहा है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना),

ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (किसी से कुछ न लेना) ये पाँच 'यम' हैं। गोरखनाथ की लिखी बताई जानेवाली लोक-भाषा की पुस्तकों में किसी-न किसी रूप में ये बातें आ जाती हैं, पर स्वर उनका नैतिक है। गोरखमानी में ब्रह्मचर्य, मधुर भाषण, सयम और सत्य की महिमा इस प्रकार बताई गई है :

“यंद्री का लङ्कड़ा जिभ्या का फूहड़ा।

गोरख कहे ते परतवि चूड़ड़ा ॥

काछ का यती मुछ का सती।

सो सत पुरुष उत्तमो कथी ॥”

यद्यपि इनका स्वर नैतिक है, पर उन्हें योग-साधना का आवश्यक कर्तव्य माना गया है। ज्ञान-चर्चा अधिकतर ‘कथनी-प्रधान’ है। एक ही बात को कई प्रकार से घुमा-फिराकर, धक्कामार बनाकर, आकर्षक रूप देकर कहने की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती गई है। ब्रह्मचर्य-पालन को स्त्री-वर्जन, स्त्री-निन्दा आदि का रूप मिला है। ब्रह्मचर्य का जीवन न बिता सकनेवाले को असत्य कठोर भाषा में स्मरण किया गया है। आध्यात्मिक दृष्टि से उसे ‘एसिया’ (खस्सी, नपुंसक) तक कहा गया है और शिव और सती को भी इस लपेट में आ जाना पड़ा है। परवर्ती प्रयोगों में इस बात पर कुछ नहीं कहा गया कि ‘ब्रह्मचर्य’ क्यों कर्तव्य है, केवल उसकी महिमा का वर्णन कर दिया गया है और उसके ने पालन करनेवालों की एवर ली गई है :

“राँडी तज्या न एसिया जीयै

पुरुष तज्या नहि नारी।

कहै नाथ ते दोन्हीं भिनसैं

बोधा की असवारी ॥”

“तौ जुग राँडिया जोगेसुर व्यासा,

सिवसती सैं करा ।

जा पद मंदिर पुरुष विलंब्या,

बहि मन्दिर घर मेरा ॥”

इसी प्रकार प्रत्येक ‘यम’ का रूप उत्तरोत्तर कथनी-प्रधान, कटु

आलोचना प्रणय और कभी-कभी स्त्रीभक्त से भरी गाली-गलौज के रूप में भी प्रकट हुआ है ।

शास्त्र में इन यमों के विपरीत आचरण को 'वितर्क' कहा गया है । इसका फल दुःख और अज्ञान है । युक्तिपूर्वक बताया गया है कि क्यों यमों का पालन कर्त्तव्य है और क्यों वितर्कों से बचना आवश्यक है । इन वितर्कों के दमन और संयम की उपलब्धि के लिये शास्त्रकार ने पाँच प्रकार के नियम बताए हैं—शौच ( पवित्रता ), सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर का ध्यान । परवर्ती लोक-भाषा के ग्रंथों में इन सबकी कुछ-न-कुछ चर्चा है, पर स्वर नैतिक है और भाषा में कभी कभी इनके विरुद्ध आचरणवालों के प्रति क्रोध का स्वर भी मिल गया है । आत्म और प्राणायाम मध्यकाल के योग-ग्रंथों में बहुत महत्वपूर्ण स्थान अधिकार करते हैं । आसन और प्राणायाम शरीर-साध्य हैं, परन्तु प्रत्याहार मानसिक है । शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध इन बाहरी पदार्थों से इन्द्रियों को हटाकर (प्रत्याहृत करके) पहले अन्तर्मुख करना पड़ता है । इस अवस्था में बाह्य विषयों के साथ इन्द्रियों का कोई सम्पर्क नहीं होने से वे ( इन्द्रियगण ) चित्त का पूर्ण अनुकरण करते हैं । इसी अवस्था का नाम प्रत्याहार है । शास्त्र में इन पाँचों को बहिरंग साधन इसलिये बताया गया है कि इन पाँचों—यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार—का कार्य-सिद्धि से बाहरी संबंध है । परन्तु धारणा, ध्यान और समाधि नामक योगांगों का कार्य-सिद्धि से साक्षात् संबंध है, इसलिये उन्हें अन्तरंग साधन कहा गया है । इन तीनों को एक ही नाम 'संयम' से भी अभिहित किया गया है । इनकी पारस्परिक एकता दिखाना ही इस एक नाम देने का उद्देश्य है । वस्तुतः जब ध्यान, धारणा और समाधि एक ही विषय का आश्रय करके होते हैं, सभी योगांग कहे जा सकते हैं, एक के ध्यान, दूसरे की धारणा और तीसरे की समाधि को योग नहीं कहा जा सकता । नाना विषयों में लगे हुए विभिन्न चित्त को किसी एक ही विषय पर केन्द्रित करने को धारणा कहते हैं; धारणा से जब चित्त कुछ स्थिर हो जाता है, तब ध्येय विषय की एकाकार चिन्ता होती है; और जब वह ध्यान निरन्तर अभ्यास के कारण स्वरूप-शून्य-सा होकर ध्येय विषय के

आकार के रूप में प्रतिभासित होता है, तो उसे समाधि कहा जाता है। शास्त्र ने साधना कर दिया है कि यह अन्तरंग और बहिरंग भेद केवल सम्प्रज्ञात समाधि के लिये है, असम्प्रज्ञात समाधि के लिये तो सभी बहिरंग ही हैं।

ऐसा जान पड़ता है कि उत्तर-मध्य काल में इन योगियों को लोक-भाषा में लिखने की परिपाटी दीर्घकाल से चली आती हुई परम्परा का अन्तिम रूप है। यह परम्परा लोक-भाषा में थी और लोकहित ही उसका प्रधान लक्ष्य था। धीरे धीरे उसका नैतिक स्वर ही प्रबल होता गया और साधनात्मक रूप मद्धिम पड़ता गया। निर्गुणियों और निरंजनियों की वाणियों में इनका यही नैतिक रूप बचा रह गया है। मध्यकाल के साहित्य के विश्लेषण से इस नतीजे पर पहुँचा जा सकता है कि जहाँ सन्त-साहित्य में प्रधान रूप से यह नैतिकता-प्रधान स्वर ही जीवित रह सका, वहाँ विशुद्ध योगयोगियों ने प्रक्रिया वाले रूप को ही कसकर पकड़ रखा। साहित्य में वह कम आया, पर साहित्य को निरन्तर प्रभावित करता रहा। उधर विवेकख्याति पर जोर देने वाले सम्प्रदायों ने उसके ज्ञानमूलक अंश को ही कसकर पकड़ा। इस प्रकार एक तरफ तो प्रक्रिया प्रधान योग-मार्ग साधना विधि से ही चिपटता गया और दूसरी ओर मानस शुद्धि से विवेकख्याति प्राप्त करने को सब-कुछ माननेवाले अधिकाधिक 'कथनी'-प्रधान होते गए। 'कथनी' और 'करनी' ये दो मार्ग मध्यकाल में बहुत स्पष्ट हो गए। गोरखनाथ ने 'करनी' को दुःखलभ्य या दुहेली कहा है और 'कथनी' (करणि) को सुखलभ्य या सुहेली बताया है और जो लोग करनी पर ध्यान न देकर कथनी को ही सब कुछ माने बैठे हैं, उन्हें यह कहकर उपहास का पात्र माना है कि जिस प्रकार सुग्गा पड़ता-लिखता है, पर झिल्ली उसे घर दबाती है; उसी प्रकार कथनी वाले पंडित को भाया घर दबाती है और उसकी पोथी हाथ में पड़ी ही रह जाती है।

“कहणि सुहेली रहणि दुहेली कहणि रहणि भिन पोथी।

पढ़्या गुँएया सुवा बिलाई घाया, पंडित के हाथि रह गई पोथी॥”

कोई यह मानने को तैयार नहीं था कि वह केवल कथनी करता है। दोनों ने दोनों पर कसकर आघात किया है और दोनों में बार-बार सामंजस्य

विधान का भी प्रयत्न होता रहा। यह प्रक्रिया निरन्तर चलती रही कि सम्प्रदाय में कुछ लोग जब पढ़-लिखकर पंडित हो जाते थे, तब सम्प्रदाय के सिद्धान्तों को संस्कृतबद्ध करके ऊपरले स्तर में जाने का प्रयत्न करते थे और इस प्रकार लोकभाषा की रचनाओं का सार छनकर ऊपर आ जाता था। यह भी होता था कि संस्कृत ग्रंथों की चुनी हुई बातें भाषा में ले आकर उनका तर्क युक्ति सहित सार-भाग भाषा में आ जाता था, पर सब मिलकर यह आन्दोलन जनता का ही बना रहा।

निर्गुण भक्ति-मार्ग की आरम्भिक अवस्था ज्ञान की कथनी वाले मार्गों की परम्परा का ही अन्तिम रूप रही होगी। कधीर, दादू आदि के नाम पर पाई जाने वाली वाणियों के विश्लेषण से इस नतीजे पर ही पहुँचना संभव है। वस्तुतः इनकी साखियाँ आठ योगों के विभिन्न पद्धतियों की स्पष्ट करने के उद्देश्य से ही लिखी गई हैं। इन उपदेशों में ज्ञान-प्रवण नैतिक स्वर ही प्रधान है, योग संबंधी स्वर गौण। इसी ज्ञान-प्रवण नैतिकता-प्रधान योग-मार्ग के स्तर में भक्ति का बीज पड़ने से जो मनोहर फल उत्पन्न हुई, उसीका नाम निर्गुण भक्ति-मार्ग है।

---



## १३. सहज और नाथ सिद्ध

हमने देखा है कि इस काल में वेद को अन्तिम और अविसंवादी प्रमाण मानने का आग्रह बहुत अधिक था। परन्तु उस काल की यही एकमात्र प्रवृत्ति नहीं थी। एक दूसरा स्वर वेद विरोधी भी था। छठी-सातवीं शताब्दी के बाद यह वेद विरोधी स्वर अधिक स्पष्ट होकर प्रकट होता है। यौद्धों और जैनो में भी वेद-विरोधी स्वर पाया जाता है और वह काफी पुराना है। परन्तु यह नया स्वर कुछ भिन्न श्रेणी का है। इसमें सब व्यापक, सर्व शक्तिमान प्रभुसत्ता को अस्वीकार नहीं किया गया है। कभी-कभी तो इसमें अद्वैतवाद का स्वर बहुत स्पष्ट होकर प्रकट हुआ है। षष्ठी-ठगो शताब्दियाँ बीतती गई हैं व्योंव्यों इस विरोध का स्वर केवल हद ही नहीं कटोर भी होता गया है। क्या यह आर्येतर जातियों की देन है? क्या यह उन जातियों के मनीषियों की प्रतिक्रिया थी जो अब तक आर्यभाषा के माध्यम से नहीं कह सके थे। वाममार्गी तथिक और योगी तो उल्टी और धक्कामार भाषा में कहने के अभ्यस्त हो गए थे। विरोधाभास यह कि ऐसा कहने से उनकी प्रतिष्ठा घटी नहीं। ये लोग अधिकाधिक उत्साह के साथ सीधी बात को भी उलट के जटिल और गुथीली बनाकर और आक्रामक तथा धक्कामार बनाकर कहते गए। कहने का ढंग कुछ विचित्र-ता था। गोमाँठ भक्ष्य पाप है यह सर्वविदित बात है, वारुणी पीना घृणी बात है यह सभी जानते हैं, लेकिन इटयोगी यही कहेंगा कि नित्य गोमाँठ भक्ष्य करना चाहिए और अमर वारुणी का पान करना चाहिए क्योंकि यही विष्णु का परमपद है और यही कुलीन का परम कर्तव्य है<sup>१</sup>। यह भाषा स्पष्ट ही आक्रामक और धक्कामार है।

<sup>१</sup> इटयोगप्रदीपिका (३-४९-४८)

इसका उद्देश्य भी शायद चिदाना ही है क्योंकि दूसरे ही श्लोक में स्पष्ट व्याख्या कर दी गई है कि गो, जिह्वा का नाम है और उसे उलटकर ब्रह्मरंध्र में ले जाना ही गोमांस भक्षण है। तालु के नीचे जो चन्द्र स्थान है उससे सोमरस नामक अमृत भरा करता है वही तो अमर वाक्यो है इसे पाना बड़े पुण्य का फल है। दूसरी बात कहने के लिये पहले वाले श्लोक की भाषा एक हम आवश्यक नहीं थी। जिह्वा को तालु में उलटने को गोमांस भक्षण कहना बिल्कुल अनावश्यक था फिर भी ऐसी भाषा का प्रयोग किसी-न-किसी उद्देश्य को सामने रखकर ही किया गया होगा निर्दोष बातों को ऐसी भाषा में कहना जिससे वैदिक आचार में विश्वास रखने वाले व्यक्ति के चित्त में धक्का लगे केवल यही सूचित कर सकता है कि इस प्रकार की बात कहने वालों के मन में वैदिक आचार के प्रति भ्रष्टा नहीं थी। तान्त्रिकों और इट योगियों के साहित्य से इस प्रकार की बहुत सामग्री संग्रह की जा सकती है। कृष्णाचार्य ने जय कहा था “एककु न किजइ मत न संत, शिष्य घरणी सेइ केलि करंत” अर्थात् मंत्र-तंत्र सब बेकार हैं केवल गृहिणी के साथ केलि करने से ही सिद्धि प्राप्त होती है तो वास्तव में वे यह कहना चाहते थे कि महामुद्रा की साधना से ही सिद्धि प्राप्त होती है। यद्यपि उन्होंने भप, तप सबकी व्यर्थता बतलाई है परन्तु इसके लिये इस भाषा की आवश्यकता नहीं थी। इस बात को आसानी से सहज सरल भाषा में कहा जा सकता था।

योगियों, सहजयानियों और तान्त्रिकों के ग्रन्थों से ऐसी उलटवर्तियों का संग्रह किया जाय तो एक विशाल पोथा तैयार हो सकता है। परन्तु हमें अधिक संग्रह करने की जरूरत नहीं। इस प्रकरण में जो प्रसंग उद्घापित किया जा रहा है वही हमारे काम के लिये पर्याप्त है।

सहजयानियों में इस प्रकार की उलटी बातियों का नाम ‘सन्ध्या-भाषा’ प्रचलित था। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री के मत से ‘सन्ध्या-भाषा’ से मतलब ऐसी भाषा से है जिसका कुछ अंश समझ में आए और कुछ अस्पष्ट लगे, पर ज्ञान के दीपक से, जिसका सब स्पष्ट हो जाय। इस व्याख्या में ‘सन्ध्या’ शब्द का अर्थ ‘साँझ’ मान लिया गया है और यह भाषा अन्धकार

और प्रकाश के बीच की संघा की भाँति ही कुछ स्पष्ट और कुछ अस्पष्ट बतवाई गई है। किन्तु ऐसे बहुत से विद्वान् हैं जो उक्त भाषा का यह अर्थ स्वीकार नहीं करना चाहते। एक पण्डित ने अनुमान भिड़ाया है कि इन शब्द का अर्थ सन्धि देश की भाषा है। सन्धि देश भी, इस पंडित के अनुमान के अनुसार, वह प्रदेश है जहाँ बिहार की पूर्वी सीमा और बंगाल की पश्चिमी सीमा मिलती है। यह अनुमान स्पष्ट ही निराधार है क्योंकि इसमें मान लिया गया है कि बंगाल और बिहार के आधुनिक विभाग सदा से इसी भाँति भले चले आ रहे हैं। महामहोपाध्याय विधुशेखर भट्टाचार्य का मत है कि यह शब्द मूलतः 'सन्धा-भाषा' है, 'सन्धा-भाषा' नहीं अर्थ अभिसन्धिसहित्य या अभिप्राययुक्त भाषा है। आप 'सन्धा' शब्द को संस्कृत 'सन्धाव' (—अभिप्रेत्य) का अपभ्रष्ट रूप मानते हैं। गौड़ शास्त्र के किसी-किसी वचन ने सहजमान और वज्रवान में यह रूप धारण किया है। असल में, जैसा कि भट्टाचार्य महाशय ने सिद्ध कर दिया है, वेदों और उपनिषदों में से भी ऐसे उदाहरण खोज निकाले जा सकते हैं, जिनमें सन्धा भाषा जैसी भाषा के प्रयोग मिल जाते हैं परन्तु गौड़ धर्म की अन्तिम यात्रा के समय यह शब्द और यह शैली अत्यधिक प्रचलित हो गई थी और साधारण जनता पर इसका प्रभाव भी बहुत अधिक था।

लेकिन अन्त तक यह विरोध कुछ कार्यकर नहीं हुआ। राजनीतिक और धर्मनीतिक कारणों ने मूल समस्या को घर दबोचा। ब्राह्मण मत प्रबल होता गया और इस्लाम के आने के बाद सारा देश जब दो प्रधान प्रतिस्पर्धी धार्मिक दलों के रूप में विभक्त हो गया तो किनारे पर पड़े हुए अनेक सम्प्रदायों को दोनों में से किसी एक को चुन लेना पड़ा। अधिकांश लोग ब्राह्मण और वेद-प्रधान हिन्दू समाज में शामिल होने का प्रयत्न करने लगे। कुछ सम्प्रदाय सुलमान भी हो गए। दसवीं-न्याहवीं सदी के बाद क्रमशः वेदवादा सम्प्रदायों की यह प्रवृत्ति बढ़ती गई कि अपने को वेदानुयायी सिद्ध किया जाय शैवों ने भी ऐसा किया और शाक्तों ने भी। परन्तु कुछ मार्ग इतने वेद विरोधी थे कि उनका सामंजस्य किसी प्रकार इन मतों से नहीं हो सका; वे धीरे-धीरे सुलमान होते रहे। गोरक्षनाथ ने योग-मार्ग में ऐसे

अनेक मतों का संघटन किया। हमने ऊपर देखा है कि गुरु, गुरुभाई और गुरु-सतीर्थ कहे जाने वाले लोगों का मत भी उनका सम्प्रदाय माना जाने लगा है। जालन्धरनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, श्रीर कृष्णपाद के प्राप्य ग्रन्थों से उद्धरण देकर सिद्ध किया जा सकता है कि ये लोग वेदों की परवा करने वाले न थे। इन सब के शिष्य और अनुयायी, भारतीय धर्म-साधना के इस उपल-पुण्य के युग में गोरक्षनाथ के नेतृत्व में संघटित हुए। परन्तु जिनके आचरण और विचार इतने अधिक विभ्रष्ट थे वे किसी प्रकार के योग-मार्ग का ग्रहण ही नहीं सकते थे, उन्हें उन्होंने स्वीकार नहीं किया। शिवजी के द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय उनके द्वारा स्वीकृत हुए वे निश्चय ही बहुत पुराने थे। एको सरसरी निगाह से देखने पर भी स्पष्ट हो जाएगा कि आज भी उन्हीं सम्प्रदाय में सुलभमान योगी अधिक हैं जो शिव द्वारा प्रवर्तित और बाद में गोरक्षनाथ द्वारा स्वीकृत थे।

कहने का तात्पर्य यह है कि गोरक्षनाथ के पूर्व ऐसे बहुत से शैव, श्रद्ध और शाक्त सम्प्रदाय थे जो वेदवादा होने के कारण न हिन्दू थे न मुसलमान। जब मुसलमानी धर्म प्रथम बार इस देश में परिचित हुआ तो नाना कारणों से दो प्रतिद्वन्द्वी धर्म-साधनामूलक दलों में यह देश विभक्त हो गया। जो शैव मार्ग और वेदानुयायी शाक्त मार्ग थे, वे वृत्तर ब्राह्मण-प्रधान हिन्दू-समाज में मिल गये और निरन्तर अपने को कष्ट वेदानुयायी सिद्ध करने का प्रयत्न करते रहे। गोरक्षनाथ ने उनको दो प्रधान दलों में पाया होगा—(१) एक तो वे जो योगमार्ग के अनुयायी थे परन्तु शैव या शाक्त नहीं थे, (२) दूसरे वे जो शिव या शक्ति के उपासक थे—शैवागमों के अनुयायी थे—परन्तु गोरक्ष-सम्मत योगमार्ग के उतने नजदीक नहीं थे। इनमें से जो लोग गोरक्ष-सम्मत मार्ग के निकट थे उन्हें उन्होंने न योगमार्ग में स्वीकार कर लिया, बाकी को अस्वीकार कर दिया। इस प्रकार दोनों ही प्रकार के मार्गों से ऐसे बहुत से सम्प्रदाय आ गए जो गोरक्षनाथ के पूर्ववर्ती थे परन्तु बाद में उन्हें गोरक्षनाथी माना जाने लगा। धीरे-धीरे जब परम्पराएँ लुप्त हो गईं तो उन पुराने सम्प्रदायों के मूल प्रवर्तकों को भी गोरक्षनाथ का शिष्य समझा जाने

लगा। इस अनुमान को स्वीकार कर लेने पर वह व्यर्थ का बाद समूचा स्वयमेव परास्त हो जाता है जो गोरक्षनाथ के काल-निर्याय के प्रसंग में पंडितों ने रचा है। तथाकथित शिष्यों के काल के अनुसार वह कभी आठवीं शताब्दी के सिद्ध होते हैं तो कभी दसवीं के, कभी ग्यारहवीं के और कभी-कभी तो पहली दूसरी शताब्दी के भी।

ऊपर का मत केवल अनुमान पर ही आधारित नहीं है। कभी-कभी एकत्र प्रमाण परम्पराओं के भीतर से निकल भी आते हैं।

गोरक्षनाथ और शिव द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदायों की परम्परा स्वयमेव एक प्रमाण है; नहीं तो वह समझ में नहीं आता कि क्यों कोई महागुरु अपने जीवितकाल में ही अनेक सम्प्रदायों का संघटन करेगा। सम्प्रदाय मतभेद पर आधारित होते हैं और गुरु की अनुपस्थिति में ही मतभेद उपस्थित होते हैं। गुरु के जीवितकाल में होते भी है तो गुरु उन्हें दूर कर देते हैं परन्तु प्रमाण और भी हैं।

योगि-सम्प्रदायविवृति में लिखा है (पृ० ४१६-४२०) कि धवलगिरि से लगभग ८०-९० कोस की दूरी पर पूर्व दिशा में वर्तमान त्रिशूल गंगा के प्रभवस्थान पर्वत पर वाममार्गी लोगों का एक दल एकत्र होकर इस विषय पर विचार कर रहा था कि किस प्रकार हमारे दल का प्रभाव बढ़े। बहुत छान-बीन के बाद उन्होंने देखा कि आजकल श्री गोरक्षनाथ जी की यश चारों ओर फैल रहा है; यदि उससे प्रार्थना की जाय कि वह हमें अपने मार्ग का अनुयायी स्वीकार कर लें तो हम लोगों का मत लोकमान्य हो जाय। इन्होंने इसी उद्देश्य से उन्हें बुलाया। सब कुछ सुनकर श्री गोरक्ष जी ने कहा—आप यद्यपि रीति से प्रचार कर दें कि अपनी प्रतिष्ठा चाहते हैं, अथवा प्रतिष्ठा की उपेक्षा कर, अपने अवलम्बित मार्ग की वृद्धि करना चाहते हैं? यदि प्रतिष्ठा चाहते हैं तो आप अन्य सब भगदों को छोड़कर केवल योग-क्रियाओं से ही सम्बन्ध जोड़ लें; इसके अतिरिक्त यदि अपने (पहले से ही ग्रहीत) मत की वृद्धि करना चाहते हैं तो हम यह नहीं कह सकते कि साधुओं का कार्य जहाँ ग्रहण्य जनों को सन्मार्ग पर चढ़ा देना है वहाँ वे उन विचारों

को कुत्सित पथ में प्रविष्ट करने के लिए कठिन्ध हो जायें । वाममार्गियों ने— जिन्हें लेखक ने यहाँ 'कपाली' कहा है—दूसरी बात को ही स्वीकार किया और इसलिये गुरु गोरक्षनाथ ने उनकी प्रार्थना अस्वीकृत कर दी । यह पुराने मत को अपने मार्ग में स्वीकार न करने का प्रमाण है ।

पुराने मार्ग को स्वीकार करने का उदाहरण भी पाया जा सकता है । प्रसिद्ध है कि गोरक्षनाथ जी जब गोरखगढ़ी ( आधुनिक कलकत्ते के पास ) आये तो वहाँ देवी काली से उनकी सुठभेद हो गयी थी , काली जी को ही हारना पड़ा । कलस्वरूप उनके समस्त शाक्त शिष्य गोरक्षनाथ के सम्प्रदाय में शामिल हो गए । तभी से गोरक्षमार्ग में काली-पूजा प्रचलित हुई । इन दिनों सारे भारत के गोरख-ग्रन्थियों में काली-पूजा प्रचलित है । यह कथा योगि-सम्प्रदायाविष्कृति में ही हुई है ( पृ० ६१४-१६६ ) ।

## १४. धर्म और निरंजन मत

इस बात का निश्चित प्रमाण है कि ईस्वी सन् की बारहवीं शताब्दी में बिहार और काशी में बौद्धधर्म खूब प्रभावशाली था। उसके हजारों अनुयायी थे, मठ थे, विश्वविद्यालय थे और विद्वान् भिक्षुओं का बहुत बड़ा दल था। सन् ११६३ ई० में कुतुबुद्दीन के सेनापति मुहम्मद बख्तियार ने मालन्दा और ओदन्तपुरी के बिहारों और पुस्तकालयों को नष्ट किया। कहते हैं कि जब विजेता सेनापति ने स्थानीय लोगों से पूछा था कि इन पुस्तकों में क्या है, तो मतानेवाला कोई व्यक्ति वहाँ नहीं मिला। सम्भवतः पहले से ही विद्वान् भिक्षु भागकर अन्यत्र चले गए थे। कदाचित् इसी साक्ष्य बनारस भी जीता गया और सारनाथ का बिहार और ग्रन्थागार नष्ट किये गये। यद्यपि सारनाथ का कोई उल्लेख नहीं प्राप्त है तो भी ऐतिहासिक पंक्तियों का अनुमान है कि वहाँ के पुस्तकालय और मठ को भी अन्धधन्य ही जला दिया गया होगा।<sup>१</sup> बौद्धों का धर्म प्रधान रूप से संघ में केन्द्रित था, इन संघों के छिन्न जाने से गृहस्थ अनुयायियों का केन्द्रीय अनुशासन टूट गया और वे धीरे-धीरे अन्य मतों में मिल गये। फिर भी बौद्ध धर्म एक-दम लुप्त नहीं हो गया। बंगाल और उड़ीसा में उसका जीवित रूप आज भी पाया जा सका है,<sup>२</sup> और बिहार के कुछ हिस्सों में वह बहुत दिनों तक बना रहा, इसका प्रमाण हम अभी पाएँगे।

<sup>१</sup> सर चार्ल्स इलियट: हिंदुइज्म ऐंड बुद्धिज्म, ऐन हिस्टोरिकल स्ट्रेच, जिल्ड २, पृ० ११२-११३.

<sup>२</sup> (क) सर्वप्रथम महासहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री ने सन् १८६२ ई० के 'जनरल ऑफ द एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल' में एक लेख लिखकर इस सम्बन्ध में विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया। बाद में सन् १८७१ ई० में

तिब्बती ऐतिहासिक लामा तारानाथ का कहना है कि मुस्लिम आक्रमण के कारण बौद्ध सन्त और विद्वान चारों ओर छितरा गए। आज भी नाना स्थानों से बौद्ध पुस्तकों के मिलते रहने से अनुमान होता है कि ये थोड़ा-बहुत साहित्य-रचना में भी संलग्न थे। कृष्णदास कविराज नामक बंगाली वैष्णव सन्त ने सन् १५८२ ई० में प्रसिद्ध पुस्तक 'चैतन्यचरितामृत' लिखी। चैतन्य महाप्रभु की मृत्यु सन् १५३२ ई० में हुई थी। 'चैतन्यचरितामृत' के अनुसार चैतन्यदेव जब ब्रह्मदेश में गए थे तो वहाँ आरकाट जिले के किसी स्थान पर एक बौद्ध विद्वान् से उनकी बातचीत हुई थी। यह शास्त्रचर्चा सन् १५२० ई० के आसपास हुई होगी। इस घटना से अनुमान है कि ईस्वी सन् की सोलहवीं शती में बौद्ध पंडित दक्षिण में वर्तमान थे। तारानाथ ने लिखा है कि सन् १४५० ई० में चांगलराज नामक किसी राजा ने गया में बौद्ध मन्दिर बनाया था।<sup>१</sup> पंडित हरप्रसाद शास्त्री ने एक हस्तलिखित पुस्तक की चर्चा की है जिसका लेखन-काल सन् १७११ ई० है (और जो सम्भवतः मूल रूप में सन् १६६६ ई० में लिखी गई थी)। इसकी भाषा में 'भरी संस्कृत, भरी

'हिरकवरी ओंफ़ जिविंग बुद्धिजम इन बंगाल' नाम से एक पुस्तक भी प्रकाशित कराई। तब से अंग्रेजी और बंगला में इस विषय की बहुत चर्चा हुई है।

(ख) श्री नरोत्तमनाथ वसु ने सन् १९११ ई० में मयूरभंज आर्क्योलॉजिकल सर्वे की रिपोर्ट में 'माइन बुद्धिजम ऐंड इट्स फालोअर्स' नाम से एक विस्तीर्ण अध्ययन लिखा जो बाद में पुस्तकाकार भी प्रकाशित हुआ। इस पुस्तक में उन्होंने ठीक-ठीक में जीवित आधुनिक बौद्धधर्म की ओर पहले-पहल पंक्तियों का ध्यान आकृष्ट किया।

(ग) बिहार में चौदहवीं और पन्द्रहवीं शती में बौद्ध धर्म जीवित था और बाद में चलकर वह कबीरपन्थ में मिल गया, इस बात का प्रमाण इस अध्ययन से मिलेगा। अभी तक इस विषय पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया है।

<sup>१</sup> एजियट, पृ० ११३—११४.



हिन्दी और भड़ी बिहारी भाषाओं की विचित्र लिचड़ी है।<sup>१</sup> इसमें बुद्ध के अवतार ग्रहण करने की और सत्ययुग प्रवर्तित होने की बात लिखी हुई है। इसका नाम 'बुद्धचरित' है। इन सब बातों से पता चलता है कि बौद्ध धर्म किसी-न-किसी रूप में दीर्घ काल तक जीवित रहा और छत्र भी किसी-न-किसी रूप में कहीं-कहीं जी रहा है।

सन् १३२४ ई० में विरहुत के राजा को मुस्लिम आक्रमण के कारण भागना पड़ा। वह अपने साथ अनेक ब्राह्मण पंडितों को लेता गया। यद्यपि इसका राज्य दीर्घ काल तक स्थायी नहीं रह सका पर उसके पश्चात् एक दूसरे हिन्दू राजा जयस्यति ने पंडितों की सहायता से समाज का स्तर-विभाजन कर दिया। उसने बौद्ध समाज को भी हिन्दुओं की भाँति नाना जातियों में विभक्त कर दिया। उसने प्रत्येक जाति का पेशा और उसकी सामाजिक मर्यादा भी तय कर दी। नेपाल में बौद्ध धर्म बहुत प्राचीन काल से पहुँच गया था। अशोक-काल से ही वहाँ इस धर्म के अस्तित्व का प्रमाण पाया जाता है। सातवीं शताब्दी के एक शिलालेख में वहाँ सात शैव, छः बौद्ध तथा चार वैष्णव तीर्थों का उल्लेख है। सो, हिन्दू राजा और समाज व्यवस्थापकों ने नये सिरे से मैदान के साथ नेपाल का सम्बन्ध बहुत दृढ़ किया। नेपाल-स्थित बौद्ध धर्म मैदान के ब्राह्मण धर्म द्वारा प्रभावित भी होता रहा और उसे प्रभावित भी करता रहा। आठवीं-नवीं शताब्दी में बौद्ध धर्म बड़े पैग से तान्त्रिक साधना और काया योग की ओर बढ़ने लगा। बाद में शैव योगियों का एक सम्प्रदाय नाथपन्थ बहुत प्रबल हुआ, उसमें तान्त्रिक बौद्ध धर्म की अनेक साधनाएँ भी अन्तर्भुक्त थीं। इस मत से मैदान में बड़ा प्रभाव विस्तार किया। इन योगियों से कबीरदास का सीधा सम्बन्ध था,<sup>२</sup> फिर भी बीजक में नाना स्थानों पर बौद्धों की चर्चा आ ही जाती है। इस बौद्ध धर्म का स्वरूप केवल अनुमान का विषय है। ऐसा जान पड़ता है कि उड़ीसा के उत्तरीभाग, छोटा नागपुर को घेर कर सीढ़ों से पश्चिमी बंगाल तक के क्षेत्र में धर्म या निरंजन

<sup>१</sup> देखिए फ़ैसलक का ग्रन्थ, 'कबीर'

की पूजा प्रचलित थी जिसके बारे में अनुमान किया गया है कि यह बौद्धधर्म का प्रच्छन्न ( या विस्मृत ) रूप था । बिहार के मानभूम, बंगाल के वीरभूम और बांकुड़ा आदि जिलों में एक प्रकार के 'धर्म'-सम्प्रदाय का पता लगा है । यह धर्म-मत अब भी जी रहा है ।

धर्मपूजा-विधान में निरंजन का ध्यान इस प्रकार दिया हुआ है—

ओं यस्यान्तं नादिमध्ये न च परचरणं नास्ति कायो निनादम्  
नाकारं नादिरूपं न च भयमरणं नास्ति जन्मैव यस्य ।  
योगीन्द्रध्यानमस्य सकलदलगतं सर्वसंकल्पहीनम्  
तत्रैकोऽपि निरञ्जनोऽमरवरः पातु मां शून्यमूर्तिः ॥

रमाई पंडित के शून्यपुराण में धर्म को शून्य रूप, निराकार और निरंजन कहकर ध्यान किया गया है—

शून्यरूप निराकारं सहस्रविधयिनाशनम् ।

सर्वपरः परदेयः तस्मात्सर्वं वरदो भव ॥ निरंजनाय नमः ॥

धर्माष्टक नामक एक निरंजन का स्तोत्र पाया गया है जिसकी संस्कृत तो बहुत भ्रष्ट है पर उससे निरंजन के स्वरूप पर क्या सुन्दर प्रकाश पड़ता है ।<sup>१</sup>

<sup>१</sup> ओं न स्थानं न मानं न चरणाविविधं रेखं न रूपं न च धातुवर्यं ।

द्रष्टा न दृष्टिः श्रुता न श्रुतिस्तस्मै नमस्तेऽस्तु निरंजनाय ।

ओं स्वेतं न पीतं न रक्तं न रेतं न हेमस्वरूपं न च वर्णकर्यं

न चंद्रार्कवह्नि उद्भयं न अस्तं तस्मै नमस्तेऽस्तु निरंजनाय ।

ओं न शृङ्गं न मूलं न बीजं न चांकुरं शापला न पत्रं न च स्कंधपल्लवं

न पुष्पं न गार्धं न फलं न छाया तस्मै नमस्तेऽस्तु निरंजनाय ।

ओं अधारं न ऊर्ध्वं शिवो न शक्तो सारी न पुरुषो न च लिंगमूर्तिः ।

हस्तं न पादं न रूपं न छाया तस्मै नमस्तेऽस्तु निरंजनाय ।

ओं न पंचभूतं न सप्तसागरं न दिशः त्रिदिशं न च मेरु मन्दिरं ।

कुछ विद्वानों के नये सिरे से इस शब्द के मूल स्रोत पर विचार किया है। कहा गया है कि 'धर्म' शब्द वस्तुतः आस्ट्रो-एशियाटिक श्रेणी की जातियों की भाषा के एक शब्द का संस्कृतिकृत रूप है। यह कूर्म या कछुए का वाचक है। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने बताया है कि दुल या दुली शब्द, जो अशोक के शिलालेखों में भी मिलता है और उत्तर-कालीन संस्कृत भाषा में भी गृहीत हुआ है और जो कछुए का वाचक है, आस्ट्रो-एशियाटिक भाषा का शब्द है। तथाल आदि जातियों की भाषा में यह नाना रूपों में प्रचलित है। इन भाषाओं में 'ओम' स्वार्थक प्रत्यय हुआ करता है और दुरोम, दुलोम, शरोम का भी अर्थ कछुआ होता है। इसी शब्द का संस्कृत रूप धर्म है जो संस्कृत के इसी अर्थ के साथ गड़गड़ा दिया गया है। इस प्रकार धर्म-पूजा, जिसमें कछुए का मुख्य स्थान सम्भवतः सन्यास-मुंडा आदि जातियों के विश्वास का रूप है। कवीर पन्थ में स्वयं भी कूर्म जी का सम्मान बना हुआ है, यद्यपि उनके दूसरे नाम 'धर्म' की इज्जत बहुत घट गई है। यहाँ यह कह रखना उचित है कि मुंडा लोगों में रमाई पंडित का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है।

आगे चल कर इस निरंजन का मत में इस्लाम का प्रभाव भी मिल गया था, पर वह यहाँ विवेच्य नहीं है। यहाँ इतना ही सत्य करने की बात है कि पश्चिमी बंगाल और पूर्वी बिहार में धर्मपूजा एक जीवित मत है। उसके सबसे बड़े देवता निरंजन या धर्म हैं। उन्हें रूप, बर्ण आदि से अतीत

ब्रह्मा न इन्द्रं न च विष्णु रुद्रं तस्मै०

ओं ब्रह्मांडलङ्घं न च चंद्रदण्डं न कालबीजं न च गुरु शिष्यं ।

न ग्रहं न तारा न च मेघजाला तस्मै०

ओं वेदो न शास्त्रं संध्या न स्तोत्रं मंत्रो न जाप्यं न च ध्यानकारणं ।

शोमं न दानं न च देवपूजा तस्मै०

ओं शंभीरधीरं निर्वाणशून्यं संसारसारं न च पाप-पुण्यं ।

विकृति न विकर्षा न देवदेव मम चित्तं दीनं तस्मै नमस्ते० ॥

धर्मपूजा-विधान, पृ० ७७-७८

और शून्य रूप बताया गया है। इस पन्थ का अपना साहित्य है जिसे बंगाल में धर्म-मंगल साहित्य नाम दिया गया है। पंडितों का अनुमान है कि धर्मपूजा बौद्धधर्म का भग्नावशेष है। कुछ दूसरे पंडितों का अनुमान है कि धर्म या निरंजन देवता वस्तुतः आदिवासियों के ग्रामदेवता हैं। बाद में जब रादभूमि और भारखंड में पाल राजाओं का दबदबा बढ़ा तो बौद्धधर्म बहुत सम्मानित हुआ और ग्रामदेवता भी बौद्ध रंग में रँग गए। निरंजन या धर्म देवता भी बुद्ध के नये रूप में प्रकट हुए। जो हो, धर्मपूजा में बौद्धप्रभाव है अवश्य।

---

## १५. कबीर मत में धर्म देवता का अवशेष

संक्षेप में स्थिति यह है कि राढ़भूमि, पूर्वी बिहार भूखण्ड और उड़ीसा में एक ऐसे परम देवता की पूजा प्रचलित थी (और कहीं-कहीं अब भी है,) जिसका नाम धर्म (धर्मराय) और निरंजन था और जिसपर बौद्धमत का जगदीश्वर प्रभाव था। यह भी हो सकता है कि वह बौद्धमत का आरम्भ में प्रच्छन्न रूप रहा हो पर बाद में विस्मृत रूप बन गया हो। कबीर मत को इस पन्थ से निवटना पड़ा था। विशेष रूप से कबीर पन्थ का दक्षिणी शाखा (अर्थात् धर्मदासी सम्प्रदाय) को इस प्रबल प्रतिद्वन्द्वी मत को आत्मसात् करने का भय प्राप्त है। इस सम्प्रदाय को मानने वालों पर अपना प्रभाव विस्तार करने के लिये कबीरमत में उनकी समूची जटिल सृष्टि-प्राकृतिक और पौराणिक कथाएँ ले ली गई थीं। केवल इतना सुधार सर्वत्र कर लिया गया था कि निरंजन के प्रभाव से जगत् को मुक्त करने के लिये सत्यपुरुष ने बार-बार शानीजी का इस बराबाम पर भेजा था। शानी जी कबीर का ही नामान्तर है।

इस प्रसंग में लक्ष्य करने की बात यह है कि जिस प्रकार उड़ीसा में बौद्धधर्म वैष्णवधर्म के रूप में आविर्भूत होकर भी ब्राह्मणों का कोपभाजन बना था उसी प्रकार उन क्षेत्रों में भी हुआ था जो बीजक के प्रचार-क्षेत्र में आते थे। 'विप्रमतीसी' में ब्राह्मणों के वैष्णव-विद्वेष का उल्लेख है:

हरि भक्तन के छूत लगायी ।

.....

विष्णुभक्त देखे दुख पाये ।

'कबीरबानी' और 'अनुरागसागर' में कबीरदास के मुँह से कहलवाया गया है कि काल (निरंजन) कबीर के नाम पर बारह पन्थ चलाएगा जो लोगों को कबीर की वास्तविक शिक्षाओं से वंचित रखकर उन्हें भ्रम के फन्दे में

ढाले रखेगा कबीरबानी के अनुसार<sup>१</sup> इन बारह मतों में से तीसरे का नाम 'मूल निरंजन' मत है। हमें किसी अन्य मूल से यह स्पष्ट नहीं हो सका है कि यह 'मूल निरंजन' मत क्या था। कबीरबानी में केवल इसका नाम भर दिया गया है। परन्तु अनुरागसागर में इस पन्थ का कुछ विस्तृत वर्णन दिया गया है। यह वर्णन भी अस्पष्ट ही है। इससे ही पता चलता है कि काल का 'मनभग' नामक दूत 'मूलकथा' को लेकर पन्थ चलाएगा और अपने पन्थ का नाम मूल पन्थ कहेगा। वह जीव का 'लूदी' नाम समझाएगा और इसी नाम को 'पारख' कहकर प्रचार करेगा भग शब्द का सुमिरन मुँह से कहेगा और समस्त जीवों को एक साथ पकड़कर रखेगा<sup>२</sup> ऐसा जान पड़ता है कि कबीर-पन्थ की प्रतिष्ठा के बाद भी मूल निरंजन सम्प्रदाय ने एक बार फिर उठाया था और उस मूलकथा को आश्रय करके अपनी प्रतिष्ठा कायम करना चाही थी जिसे कबीर-पन्थी साहित्य में कबीर-महिमा के प्रचार के लिये उपयोग में लाया गया है, परन्तु कबीर-पन्थी पुस्तका से मालूम होता है कि इस मूलकथा को आश्रय करके अपनी प्रतिष्ठा स्थापित करने का प्रयास करने वाला यह मूल निरंजन पन्थ अपने को कबीर मतानुयायी ही मानता था।

<sup>१</sup> कबीरबानी, पृ० ४६—४७

जौथा पन्थ सुनो धर्मदासा

मनभङ्ग दूत करै परकासा ॥

कथा मूल खे पन्थ खजावे

मूल पन्थ कहि जग साहि आवे ॥

लूदी नाम जीव समझाई ।

पही नाम पारख उहराई ॥

भग शब्द सुमिरन भाखे ।

सकल जीव धाका रहि राखे ॥

जो हो, कबीर साहित्य से इस विस्मृत, किन्तु अत्यन्त महत्वपूर्ण, मत का यत्किंचित् परिचय मिलता अवश्य है ।

कबीरपन्थ की सृष्टि-प्रक्रिया-विषयक पौराणिक कथा का संक्षिप्त विवरण लेखक ने अन्यत्र दिया है ।<sup>१</sup> उसका पुनरुल्लेख यहाँ विस्तार भय से छोड़ दिया जा रहा है । इससे हम निम्नलिखित निष्कर्षों पर पहुँचते हैं—

- (१) कबीरपन्थ का एक ऐसा प्रतिद्वन्द्वी मार्ग था जिसके परम-देवता निरंजन थे । इस देवता के दूसरे नाम धर्मराज और काल थे ।
- (२) इस निरंजन का निवासस्थान उत्तर में मानसरोवर में था ।
- (३) ब्रह्मा का चलाया हुआ ब्राह्मण मत इस निरंजन को समझ न सकने के कारण मिथ्यावादी और स्वार्थी हो गया । यह ब्राह्मण मत भी कबीरपन्थ का प्रतिद्वन्द्वी था ।
- (४) निरंजन को पाने के लिये शून्य का स्थान आवश्यक था ।<sup>२</sup>
- (५) उड़ीसा के जगन्नाथ भी निरंजन के रूप हैं ।<sup>३</sup>
- (६) द्वितीय, चतुर्थ और पंचम निष्कर्ष से अनुमान किया जा सकता है कि निरंजन बुद्ध का ही नाम था ।
- (७) निरंजन ने सारे ससार को भरमार रखा है—ऐसा प्रचार कबीरपन्थ को करना पड़ा था ।

<sup>१</sup> दे० हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'कबीर' पृ० ५२—७०

<sup>२</sup> धर्मगीता में महादेव वास ने कहा है कि जिस शून्य में महाप्रभु का वास है उसे ही बैकुण्ठ कहा जाता है:

शून्य भीष्मं याहार शून्य भोगवासी ।

न शोभे वचन रूप रस नादि किञ्चि ।

से आधार सुवने से प्रभुक्त आसन ।

से स्थान सलुक्त शुद्ध बैकुण्ठ सुवन ।—माधन बुद्धिग्रन्थ पृ० ११०

<sup>३</sup> तु० ततः कसौ संप्रवृत्ते संमोहाय सुरद्विषः ।

शुद्धनाम्नाऽऽज्जनसुतः कीकटेषु भविष्यति ।—भागवत १. १. २४

(८) 'अनुरागसागर', 'श्वासगुंजर' आदि ग्रन्थों से केवल दो प्रति इन्द्रो मतों का पता चलता है—निरंजन द्वारा प्रवर्तित निरंजन मत, और ब्रह्मा द्वारा प्रवर्तित ब्राह्मण मत। तीसरा मत विष्णु द्वारा प्रवर्तित वैष्णव मत है। कबीरपन्थ के ग्रन्थ इस मत को कथंचित् अनुकूल पाते हैं।<sup>१</sup>

(९) 'श्वासगुंजर' आदि ग्रन्थों से प्राप्त यह कथा प्रायः उल्लेख के रूप में मिलती है जो इस बात का प्रमाण है कि यह किसी भूली पुरानी परम्परा का भ्रमावशेष है।

इस प्रकार यद्यपि रचनाकाल की दृष्टि से बहुत-सी रचनाएँ परवर्ती हो सकती हैं किन्तु भी उनसे अनेक भूले हुए ऐतिहासिक तथ्यों पर प्रकाश पड़ सकता है। कबीरपन्थी साहित्य के अध्ययन के बिना जिस प्रकार धर्म और निरंजन मत का अध्ययन अधूरा रह जाता है उसी प्रकार बंगाल, उड़ीसा और पंजाब आदि प्रांतों के निरंजन मत का अध्ययन किये बिना कबीर-साहित्य का अध्ययन भी अपूर्ण रह जाता है। भारतीय साधना-साहित्य में यह एक महत्वपूर्ण विरोधाभास है कि रचना-काल की दृष्टि से परवर्ती होने पर भी कभी-कभी पुस्तकें अत्यन्त पुरातन परम्परा का पता देती हैं। गोरख सम्प्रदाय की अनुश्रुतियों, कबीरपन्थ के ग्रन्थ, धर्मपूजा-विधान साहित्य यद्यपि रचनाकाल की दृष्टि से बहुत अर्धाचीन हैं तथापि वे अनेक पुरानी परम्पराओं के अवशेष हैं। समूची भारतीय संस्कृति के अध्ययन के लिये इनकी बहुत बड़ी आवश्यकता है। लोकभाषाओं का साहित्य हमें अनेक अधभूली, भूली और उलझी हुई परम्पराओं के समझने में अमूल्य सहायता पहुँचाता है। भारतीय संस्कृति के विद्यार्थी के लिये इनकी उपेक्षा हानिकर है।



## १६. सन्त-साहित्य की सामाजिक पृष्ठभूमि

मध्यकाल का सन्त साहित्य प्रधान रूप से धार्मिक साहित्य है, परन्तु उसका धार्मिक रूप साधारण जनता के लिये लिखा गया है। इस विषय में तो किसी को मतभेद न होगा कि इस साहित्य में तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों की आलोचना की गई है। दीर्घ काल से प्रचलित धार्मिक विश्वासों, सामाजिक और वैयक्तिक आचार्यों के मान तथा विभिन्न संप्रदायों द्वारा स्वीकृत सिद्धान्तों पर या तो आक्रमण किया गया है, या उनके सम्बन्ध में सन्देह प्रकट किया गया है। यह विभिन्न सन्तों के उस तीव्र असंतोष का फल है जो उन्हें सामाजिक परिस्थितियों के कारण अनुभूत हो रहा था जिस कवि या लेखक के पास सचमुच ही कुछ कहने की वस्तु होती है, उसके व्यक्तित्व का यदि विश्लेषण किया जाय तो यह मालूम होगा कि समाज में प्रतिष्ठित रुढ़ियों में वह कुछ ऐसी त्रुटि देख रहा है, जो उसे गुरी तरह से छल रही है। वह खसनेवाली बात का विरोध करता है और उसके स्थान पर कुछ ऐसी बातों को प्रतिष्ठित करना चाहता है, जो उसके मन के अनुकूल होती हैं। इसलिये जो भी महापुरुष कुछ कहने लायक बात कहता है, वह किसी न किसी रूप में सामाजिक परिस्थितियों से असंतुष्ट होता है और किसी-न-किसी बात का प्रचार करना चाहता है। वह जो कुछ कहना चाहता है, उसकी उपादेयता पर ही उसके वक्तव्य का महत्व होता है। लेकिन उपादेयता क्या है, इस विषय में नाना मुनियों के नाना मत हैं। हम अभी इस प्रश्न पर नहीं आना चाहते। आगे इस पर विचार करने का भी हमें अवसर मिलेगा। अभी इतना जान रखना आवश्यक है कि लेखक जब देने-लायक कुछ देता है तो उसके चित्त में कहीं-न-कहीं और किसी न-किसी प्रकार की सामाजिक त्रुटि से उत्पन्न व्याकुलता अवश्य रहती है।

जिसे हम आजकल संत-साहित्य कहने लगे हैं, वह वस्तुतः निर्गुण

भक्तिमार्ग का साहित्य है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि उत्तर भारत में भक्तिमार्ग को रामानन्द ले आये थे और सौभाग्य से उन्हें कबीर जैसा शिष्य मिला गया था। कबीर के अनुयायियों में यह दोहा प्रचलित है।

भक्ति द्राविड़ ऊपजी लाये रामानन्द ।

प्रगट किया कबीर ने सप्त द्वीप नव खण्ड ॥

पद्म पुराण के उत्तर खण्ड में जो श्री मद्भागवत महात्म्य है, उसमें भक्ति के मुख से यह कहलवाया गया है कि मैं द्रविड़ देश में उत्पन्न हुई, कर्नाटक में बढ़ी हुई, कहीं कहीं महाराष्ट्र में बिदार करती हुई अन्त में गुजरात देश में आकर जीर्ण हो गई, फिर घोर कलि काल में पाण्डुरिष्यों ने मेरा सिर खण्ड खंड कर दिया, और मैं अपने पुत्रों के साथ दुर्बल होकर क्षीण हो गई। अन्त में वृन्दावन में मुझे नया रूप प्राप्त हुआ और यहाँ आकर सुवावस्था में मनोरम रूप प्राप्त करने में समर्थ हो सकी।

उत्पत्ता द्राविडेसाहं, वृद्धि कर्णाटके गताः

कचित् कचिन महाराष्ट्रे गुजरे जीर्णता गता

कबीर पन्थियों में प्रचलित दोहे से इस श्लोक का इतना ही साम्य है कि भक्ति द्रविड़ देश में उत्पन्न हुई थी और वहाँ से कमशः उत्तर दिशा को आई। परन्तु द्रविड़ देश में जो भक्ति उत्पन्न हुई थी उसका वही रूप नहीं है जो कबीर आदि निर्गुण सन्तों में प्राप्त होता है। इसका क्या कारण हो सकता है? निःसंदेह यहाँ कुछ ऐसी सामाजिक परिस्थितियाँ थी जिनके कारण द्रविड़ देश की उत्पन्न भक्ति ने उत्तर में आकर यह रूप ग्रहण किया। साथ ही यह ध्यान देने की बात है कि उस भक्ति ने उत्तर भारत के दो श्रेणी के भक्तों में दो रूप ग्रहण किए। जो भक्त ऊँची जातियों से आए थे उनमें उसने जो रूप ग्रहण किया, वह परम्परा प्रचलित विश्वासों के प्रति उसने तीव्र और आक्रामक रूप में नहीं प्रकट हुई जिस आक्रामक रूप में वह उन भक्तों में प्रकट हुई जो समाज की निचली श्रेणी की जातियों के भीतर से आए थे प्रथम श्रेणी के भक्तों ने समाज में प्रचलित शास्त्रीय आचार-विचार, व्रत-उपवास, ऊँच-नीच की मर्यादा को स्वीकार कर लिया। उनका असन्तोष

दूसरी श्रेणी के भक्तों के असंतोष से बिलकुल भिन्न था। वे सामाजिक व्यवस्था से असंतुष्ट नहीं थे। वे लोगों के भोगपरक भगवद्-विमुख आचरण से असंतुष्ट थे। श्रुति और श्रुति-परम्परा में आनेवाले धर्मग्रन्थों को कर्तव्य-कर्तव्य के नियमन के लिये उन्होंने श्रविर्वादी प्रमाण के रूप में स्वीकार किया था। तुलसीदास, सुरदास आदि, सगुणमार्गी भक्तों की वाणियों में गणिका, अजामिल के तारने की चर्चा बार-बार आती है। पौराणिक विश्वास के अनुसार ये लोग उच्च कौटिका जीवन यापन करने वाले नहीं थे। लेकिन “भाव-कुभाव अनख आलसहू” किसी प्रकार इनके मुख से भगवान का नाम निकल गया और वे तर राए। इन नामों का भक्ति-साहित्य में आना भक्तों के अत्यधिक वैयक्तिक दृष्टि का परिचायक है, जिसमें केवल साधु उद्देश्य पर ही जोर दिया गया है। उस उद्देश्य का कल क्या होगा, इसपर ध्यान नहीं दिया गया।

दूसरी और निचली श्रेणी से आए हुए भक्तों में सामाजिक व्यवस्था के प्रति भी तीव्र असंतोष का भाव व्यक्त होता है। यद्यपि उनमें भी वैयक्तिक साधु-बुद्धिपर कम जोर नहीं दिया गया।

इतना तो स्पष्ट है कि भारतवर्ष में दो प्रकार का अत्यन्त स्पष्ट सामाजिक स्तर था। एक में शास्त्र के पठन-पाठन की व्यवस्था थी, और उनके आदर्श पर संगठित सामाजिक व्यवस्था के प्रति सहानुभूति थी, और दूसरे में सामाजिक व्यवस्था के प्रति तीव्र असंतोष का भाव था।

यह व्यवस्था एक दिन की उपज नहीं थी। दीर्घ काल तक इसकी खुराक मिलती रही। वैदिक धर्म की प्रतिष्ठा इस देश में बहुत पहले से हो चुकी थी। नाना उतार-चढ़ावों के रहते वेद अन्न तक भारतीय जनता के परम आदर और श्रद्धा के पात्र बने रहे। जैसा कि पहले कहा गया है सन् ईस्वी की छठी-सातवीं शताब्दी के आस-पास एक विशेष प्रवृत्ति का परिचय इस देश में पाया जाता है। बहुत-से धर्ममतों को नीचा दिखाने के लिये उन्हें वेदवाक्य कह दिया जाता है। यह प्रवृत्ति धीरे धीरे बढ़ती ही जाती है। बाद में किसी सम्प्रदाय को अवैदिक कह देना, उसे लोक-दृष्टि में हेय बनाने का साधन बन गया। लेकिन एक और प्रवृत्ति भी उन दिनों उठने ही उपरूप में पाई जाती है, जिसकी चर्चा

बहुत कम हुई। इसमें वेदों को ही तुच्छ बताने की प्रवृत्ति है। सातवीं-आठवीं शताब्दी के तान्त्रिकों में वेदविहित आचार को हेय घोषित करने की प्रवृत्ति बहुत तीव्र है। बताया गया है कि आचार सात प्रकार के होते हैं। पहला वेदाचार सबसे हेय आचार है जिसमें वैदिक काश्य कर्म, यज्ञ यागादि विहित हैं; दूसरा, वैष्णवाचार है जिसमें निरामिष भोजन और पवित्र भाव से व्रत, उपवास, ब्रह्मचर्य और भजन-पूजन का विधान है। इससे थोड़ा अच्छा शैवाचार है जिसमें यमनियम, ध्यान-धारण, समाधि और शिव-शक्ति की उपासना का विधान है। इन तीनों आचारों से श्रेष्ठ है दक्षिणाचार। इसमें उपर्युक्त तीनों आचारों के नियमों का पालन करते हुए रात्रिकाल में भोग आदि मादक वस्तुओं का सेवन और इष्ट मन्त्रों का जप विहित है। लेकिन यद्यपि वैदिक से वैष्णव, उससे शैव और शैव से दक्षिणाचार श्रेष्ठ है, तथापि ये सब पशु-भाव की ही साधनाएँ हैं; बोर भाव के साधक के लिये पाँचवाँ आचार वामाचार है जिसमें आत्मा का वामा अर्थात् शक्ति के रूप में कल्पना करके, साधना विहित है। उससे श्रेष्ठ आचार है सिद्धान्ताचार जिसमें मन को अधिकाधिक शुद्ध करके यह बुद्धि उत्पन्न करने का उपदेश है कि संसार में प्रत्येक वस्तु शोधन से शुद्ध हो जाती है। ब्रह्म से लेकर देखे तक में कुछ भी ऐसा नहीं है जो परम शिव से भिन्न हो। पर इनमें सबसे श्रेष्ठ है कौलाचार। जिसमें कोई भी नियम नहीं है। स्पष्ट ही इस प्रकार के सोचनेवाले वैदिक आचार को तुच्छ वस्तु मानते थे। कारण क्या है ?

जिन दिनों निर्गुण भक्ति-साहित्य का बीजारोप हुआ उन दिनों अनेक उपल-पुपल के बाद भारतीय जनता का स्तरभेद प्रायः स्थिर और दृढ़ हो चुका था। मोटे तौरपर हम सन् ईस्वी की चौदहवीं शताब्दी में इस नवीन साधना का बीजारम्भ मान सकते हैं। इसके पहले के दो-तीन सौ वर्षों में भारतीय धर्म-साधना के क्षेत्र में काफी उपल-पुपल हुई थी। यद्यपि मुसलमानों का प्रवेश इस देश के एक भूभाग में सातवीं-आठवीं शताब्दी में ही हो चुका था, तथापि प्रभावशाली मुस्लिम आक्रमण दसवीं शताब्दी के बाद होने लगा। यह बड़ा विकट काल था।

एक ओर मुसलमान लोग भारत में प्रवेश कर रहे थे और दूसरी ओर बौद्ध-साधना क्रमशः मंज-संज और टोने-टोके की ओर अग्रसर हो रही थी। सन् ईस्वी की दसवीं शताब्दी में ब्राह्मण धर्म सम्पूर्ण रूप से अपना प्राधान्य स्थापित कर चुका था; फिर भी बौद्धों, शक्तों और शैवों का एक बड़ा भारी समुदाय ऐसा था जो ब्राह्मण और वेद की प्रधानता को नहीं मानता था। यद्यपि इनके परवर्ती अनुयायियों ने बहुत प्रयत्न किया है कि उनके मार्ग को श्रुतिसम्मत मान लिया जाय, परन्तु यह सत्य है कि अनेक शैव और शक्ति समुदाय ऐसे थे जो वेदाचार को अत्यन्त निम्न कोटि का आचार मानते थे और ब्राह्मण प्राधान्य को एक दम नहीं स्वीकार करते थे। ऊपर हमने यह दिखाया है कि दसवीं शताब्दी के पहले उत्तर भारत में पाशुरत मत कितना प्रचल था। जैनसंग ने अपने यात्रा-विवरण में इस मत का बारह बार उल्लेख किया है। माणभट्ट के ग्रन्थों में इसकी चर्चा आती है। ऐसा जान पड़ता है कि उन दिनों कट्टर वेदमार्गी इस सम्प्रदाय को वेदवाह्य ही मानते थे। शंकराचार्य ने इनके धर्म विश्वास को “वेदवाह्येश्वर कल्पना” कहा है। दसवीं शताब्दी के आस-पास ब्राह्मण मत क्रमशः प्रचल होता गया और इस्लाम के आने से एक ऐसा सांस्कृतिक संकट उत्पन्न हुआ जिससे सारा देश दो प्रधान प्रतिस्पर्धी धार्मिक दलों में विभक्त हो गया। अपने को या तो हिन्दू कहना पड़ता था या मुसलमान। किनारे पर पड़े हुए अन्य सम्प्रदायों को दोनों में से किसी एक को चुन लेना पड़ा। पूर्वी बंगाल के वेदवाह्य सम्प्रदायों के धर्खावशेष कई धार्मिक सम्प्रदाय ऐसे थे जिन्होंने मुसलमानों को अपना त्राणकर्ता समझा था। वे समूह रूप में मुसलमान हो गये। पंजाब में भी नाथों, निरंजनों और पाशुरतों की अनेक शाखाएँ मुसलमान हो गयीं। गोरखनाथ के समय ऐसे अनेक शैव, बौद्ध और शक्त सम्प्रदाय थे जो न तो हिन्दू थे न मुसलमान। जो शैव और शक्त मार्ग वेदानुयायी थे वे बृहत्तर ब्राह्मण प्रधान हिन्दू समाज में मिल गये और निरन्तर अपने को कट्टर वेदानुयायी सिद्ध करने का प्रयत्न करते रहे। यह प्रयत्न अब भी जारी है। गोरखनाथ के सम्प्रदाय में अनेक बौद्ध, शैव, शक्त सम्प्रदाय अन्तर्भुक्त हुए; परन्तु इस सम्प्रदाय के भी बहुतेरे गृहस्थ मुसलमान हो

गए। इनकी संख्या नितान्त नगण्य नहीं है। सन् १६२१ की जनगणना के अनुसार पंजाब में मुसलमान योगियों की संख्या इकतीस हजार से ऊपर थी। इस प्रकार बहुत-सी जातियाँ वृहत्तर हिन्दू समाज में स्थान न पा सकने के कारण मुसलमान हो गयीं। मुसलमानों के आने के कारण हिन्दू समाज में आत्मरक्षा की प्रवृत्ति भी बड़ी तीव्र प्रतिक्रिया के रूप में हुई। उनकी जातिप्रथा अधिकाधिक कसी जाने लगी। छूत का भय और वर्णभेदकता की आशंका ने समूचे समाज को प्रभु लिया।

प्रथम बार भारतीय समाज को एक ऐसी परिस्थिति का सामना करना पड़ रहा था जो उसकी जानी हुई नहीं थी। अब तक वर्णाश्रम-व्यवस्था का कोई प्रतिद्वंद्वी नहीं था। आचार-भ्रष्ट व्यक्ति समाज से अलग कर दिए जाते थे और वे एक नई जाति की रचना कर लिया करते थे। इस प्रकार यद्यपि सैकड़ों जातियाँ और उपजातियाँ बनती जा रही थीं, तथापि वर्णाश्रम व्यवस्था किसी-न किसी प्रकार चलती ही जा रही थी। अब सामने एक सुसंगठित समाज था जो प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक जाति को अपने अन्दर समान आसन देने की प्रतिज्ञा कर चुका था। एक बार कोई भी व्यक्ति उसके विशेष धर्ममत को यदि स्वीकार कर ले तो इस्लाम समस्त भेद-भाव को भूल जाता था। बहुराजा से रंक और ब्राह्मण से चण्डाल तक सब को धर्मापासना का समान अधिकार देने को राजी था। समाज का दण्डित व्यक्ति अब असहाय न था। इच्छा करते ही वह एक सुसंगठित समाज का सहारा पा सकता था, ऐसे ही समय में दक्षिण से भक्ति का आगमन हुआ जो “बिजली की चमक के समान” इस विशाल देश के इस कोने से उस कोने तक फैल गई। इसने दो रूपों में अपने आपको प्रकाशित किया। यही वे दो धाराएँ हैं जिन्हें निर्गुण धारा और सगुण-धारा नाम दे दिया गया है। इन दोनों साधनाओं ने दो पूर्ववर्ती धर्ममतों के केन्द्र बनाकर ही अपने आप को प्रकट किया। सगुण उपासना ने पौराणिक अवतारों को केन्द्र बनाया और निर्गुण उपासना ने योगियों अर्थात् नाथपंथी साधकों के निर्गुण परब्रह्म को। पहली साधना ने हिन्दू जाति की ब्राह्मण्य की शुष्कता को आन्तरिक प्रेम से सींचकर समय

बनाया और दूसरी साधना ने बाह्याचार की शुष्कता को ही दूर करने का प्रयत्न किया। एक ने समझौते का रास्ता लिया, दूसरी ने विद्रोह का, एक ने शास्त्र का सहारा लिया, दूसरी ने अनुभव का; एक ने भक्ता को पय-प्रदर्शक माना, दूसरी ने ज्ञान को; एक ने सगुण भगवान् को अपनाया, दूसरी ने निर्गुण भगवान् को। पर प्रेम दोनों का ही मार्ग था, सुखा ज्ञान दोनों को ही अप्रिय था; केवल बाह्याचार दोनों में से किसीको सम्मत नहीं था, आन्तरिक प्रेम-निवेदन दोनों को हृदय था; अहैतुक भक्ति दोनों की काम्य थी, आत्म-समर्पण दोनों के साधन थे, भगवान् की लीला में दोनों ही विश्वास करते थे। दोनों ही का अनुभव था कि भगवान् लीला के लिये इस जागतिक प्रपंच को संहारते हुए हैं। पर प्रधान भेद यह था कि सगुण भाव से भजन करनेवाले भक्त भगवान् को अलग रखकर देखने में रस पाते रहे जब कि निर्गुण भाव से भजन करने वाले भक्त अपने आप में रमे हुए भगवान् को ही परम काम्य मानते थे।

उन दिनों भारतवर्ष के शास्त्रज्ञ विद्वान् निर्बन्ध रचना में जुटे हुए थे। उन्होंने प्राचीन भारतीय परम्परा को शिरोधार्य कर लिया था,—अर्थात् सब कुछ को मानकर, सबके प्रति आदर का भाव बनाए रखकर, अपना रास्ता निकाल लेना सगुण भाव से भजन करने वाले भक्त लोग भी संपूर्ण रूप से इसी पुरानी परम्परा से प्राप्त मनोभाव के पोषक थे। वे समस्त शास्त्रों और मुनिजनों को अकुंठ चित्त से अपना नेता मानकर उनके वाक्यों की संगति प्रेमपद में लगाने लगे इसके लिये उन्हें मामूला परिश्रम नहीं करना पड़ा। समस्त शास्त्रों के प्रेम-भक्ति-मूलक अर्थ करते समय उन्हें नाना अधिकारियों नाना भजन-शैलियों की आवश्यकता स्वीकार करनी पड़ी, नाना अवस्थाओं और अवसरों की कल्पना करनी पड़ी, और शास्त्र-ग्रन्थों के तात्पर्य की भी कल्पना करनी पड़ी। सात्त्विक, राजनिक और तामसिक प्रकृति के प्रसार-विस्तार से अनन्त प्रकृति के भक्तों और अनन्त प्रणाली के भजनों की कल्पना करनी पड़ी। सबको उन्होंने उचित मर्यादा दी और यद्यपि अन्त तक चलकर उन्हें भागवत महापुराण को ही सर्व-प्रधान प्रमाणी ग्रन्थ मानना पड़ा था, पर

अपने लम्बे इतिहास में उन्होंने कभी भी किसी शास्त्र के संबंध में अवज्ञा या अवहेला का भाव नहीं दिखाया। उनकी दृष्टि बराबर भगवान् के परम प्रेममय रूप और मनोहारिणी लीला पर निबद्ध रही, पर उन्होंने बड़े धैर्य के साथ समस्त शास्त्रों की संगति लगाई। सगुण भाव के भक्तों की महिमा उनके असीम धैर्य और अध्यवसाय में है। पर निर्गुण श्रेणी के भक्तों की महिमा उनके उत्कट साहस में है। एकने सब कुछ को स्वीकार करने का अद्भुत धैर्य दिखाया दूसरे ने सब कुछ छोड़ देने का असीम साहस।

लेकिन केवल भगवत्प्रेम या पांडित्य ही इस युग के विचार स्रोत को रूप नहीं दे रहे थे। कम-से-कम हिंदी के भक्ति-साहित्य को काव्य के नियमों और प्रभावों से अलग करके नहीं देखा जा सकता। अलंकार-शास्त्र और काव्यगत रुढ़ियों से उसे एक दम मुक्त नहीं किया जा सकता। परन्तु फिर भी वह वही चीज़ नहीं है जो संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के पूर्ववर्ती साहित्य है। विशेषताएँ बहुत हैं और हमें उन्हें सावधानी से जाँचना चाहिए।

यह स्मरण किया जा सकता है कि अलंकारशास्त्र में देवादि-विषयक रति को भाव कहते हैं। जिन आलंकारिकों ने ऐसा कहा था उनका तात्पर्य यह था कि पुरुष का स्त्री के प्रति और स्त्री का पुरुष के प्रति जो प्रेम होता है उसमें एक स्थायित्व होता है, जब कि किसी राजा या देवता संबंधी प्रेम में आवावेश की प्रधानता होती है, वह अन्यान्य संचारी भावों की तरह बदलता रहता है। परन्तु यह बात ठीक नहीं कही जा सकती। भगवद् विषयक प्रेम को इस विधान के द्वारा नहीं समझाया जा सकता। यह कहना कि भगवद्विषयक प्रेम में निर्वेद भाव की प्रधानता रहती है, अर्थात् उसमें जगत् के प्रति उदासीन होने की वृत्ति ही प्रबल होती है, केवल जड़जगत् से मानसिक संबंध को ही प्रधान मान लेना है। इस कथन का स्पष्ट अर्थ यह है कि मनुष्य के साथ जड़ जगत् के संबंध की ही स्थायित्व पर से रस का निरूपण होगा। क्योंकि अगर ऐसा न माना जाता तो शान्त रस में जगत् के साथ जो निर्वेदात्मक संबंध है, उसे प्रधानता न देकर भगवद्विषयक प्रेम को प्रधानता



दी जाती। जो लोग शास्त्ररस का स्थायी भाव निर्वेद को न कहकर शम को कहना चाहते हैं, वे वस्तुतः इसी रास्ते सोचते हैं।

इस प्रसंग में बारंबार 'जड़-जगत्' शब्द का उल्लेख किया गया है। यह शब्द भक्ति शास्त्रियों का पारिभाषिक शब्द है। इस प्रसंग का विचार करते समय याद रखना चाहिए कि भारतीय दर्शनों के मत से शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि सभी जड़ प्रकृति के विकार हैं। इसीलिये चिद्विषयक प्रेम केवल भगवान् से संबंध रखता है। इस परम प्रेम के प्राप्त होने पर, भक्तिशास्त्रियों का दावा है, कि अन्यान्य जड़ोन्मुख प्रेम शिथिल और अकृतकार्य हो जाते हैं। इसीलिये भगवत्-प्रेम न तो इन्द्रिय-प्राप्त है, न मनोगम्य, और न बुद्धि-साध्य। यह अनुभव द्वारा ही आस्वाद्य है। जब इस रस का साक्षात्कार होता है तो अपना कुछ भी नहीं रह जाता। इन्द्रियों द्वारा किया हुआ कर्म हो या मन बुद्धि-स्वभाव द्वारा, वह समस्त सविदानन्द नारायण में जाकर विभक्त होता है। भगवत् ने (११ २. ३६) इसीलिये कहा है

“कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्यात्मना वानुत्ततस्वभावात्।

करोमि यदपत् सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत्तत्॥”

पर निर्गुण भाव से भजन करनेवाले भक्तों की वाणियों के अध्ययन के लिये शास्त्र बहुत कम सहायक हैं। अब तक इनके अध्ययन के लिये जो सामग्री व्यवहृत होती रही है, वह पर्याप्त नहीं है। हमें अभी तक ठीक-ठीक नहीं मालूम कि किस प्रकार की सामाजिक अवस्थाओं के भीतर भक्ति का आन्दोलन शुरू हुआ या इस बात के जानने का सबसे बड़ा साधन-लोक-गीत, लोक-कथानक और लोकोक्ति-याँ हैं, और उतने ही महत्वपूर्ण विषय हैं। भिन्न भिन्न जातियाँ और संप्रदायों की रीतिनीति, पूजा-पद्धति और अनुष्ठानों तथा आचारों की जानकारी। पर दुर्भाग्यवश हमारे पास ये साधन बहुत ही कम हैं। भक्ति साहित्य के पढ़ने वाले पाठक को जो बात सबसे पहले आकृष्ट करती है—विशेष कर निर्गुण भक्ति के अध्येता को—वह यह है कि उन दिनों उत्तर के हठयोगियों और दक्षिण के भक्तों में मौलिक अन्तर था। एक को अपने ज्ञान का गर्व था दूसरे को अपने अज्ञान का भरोसा, एक के

लिये पिढ ही ब्रह्माखंड था, दूसरे के लिये ब्रह्माखंड ही पिढ; एक का भरोसा अपने पर था, दूसरे का राम पर; एक प्रेम को दुर्बल समझता था, दूसरा ज्ञान को फठोर, एक योगी था और दूसरा भक्त इन दो धाराओं का अद्भुत मिलन हो निर्गुणधारा का वह साक्षिण है जिसमें एक तरफ कभी न झुकने वाला अक्खड़पन है और दूसरी तरफ घर-फूँक मस्ती वाला फकड़पन। यह साहित्य अपने आप में स्वतन्त्र नहीं है नाथ मार्ग की मध्यस्थता में इसमें सहजपान और वज्रपान की तथा शैव और तंत्र मत की अनेक साधनाएँ और चिन्ताएँ आ गई हैं तथा दक्षिण के भक्ति-प्रचारक आचार्यों की शिक्षा के द्वारा वैदान्तिक और अन्य शास्त्रीय चिन्ताएँ भी।

मध्यकाल के निर्गुण कवियों के साहित्य में आने वाले सहज, शून्य निरंजन, नाथ, चिन्ह आदि बहुतरे शब्द, जो इस साहित्य के मर्मस्थल के पहरेदार हैं, तब तक समझ में नहीं आ सकते, जब तक पूर्ववर्ती साहित्य का अध्ययन गंभीरतापूर्वक न किया जाय। अरनी 'कबीर' नामक पुस्तक में मैंने इन शब्दों के मनोरंजक इतिहास की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया है एक मनोरंजक उदाहरण दे रहा हूँ। वह सभी को मालूम है कि कबीर और अन्य निर्गुणिया सन्तों के साहित्य में 'खसम' शब्द की बारबार चर्चा आती है। साधारणतः इसका अर्थ पति या निकृष्ट पति किया जाता है। खसम शब्द से मिलता-जुलता एक शब्द अरबी भाषा का है। इस शब्द के साथ समता देखकर ही खसम का अर्थ पति किया जाता है। कबीरदास ने इस लहजे में किया है कि उससे ध्वनि निकलती है कि खसम उनकी दृष्टि में निकृष्ट पति हैं। परन्तु पूर्ववर्ती साधकों की पुस्तकों में यह शब्द एक विशेष अवस्था के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। ख-सम भाव अर्थात् आकाश के समान भाव। समाधि की एक विशेष अवस्था को योगी लोग भी 'गगनोपम' अवस्था कहा करते हैं। 'ख—सम' और 'गगनोपम' एक ही बात है। अवधूत गीता में इस गगनोपमावस्था का विस्तारपूर्वक वर्णन है। यह मन की उस अवस्था को कहते हैं जिसमें द्वैत और अद्वैत, नित्य और अनित्य सत्य और असत्य, देवता और देवलोक आदि कुछ भी प्रतीत नहीं होते; जो माया-प्रपंच के ऊपर है,

जो दम्भादि व्यापार के अतीत है, जो सत्य और असत्य के परे है और जो शान रूपी अमृतपान का परिणाम है। टीकाकारों ने 'खसम' का अर्थ 'प्रभास्वरतुल्यभूता,' किया है। इस साहित्य में वह भावाभावविनिर्मुक्त अवस्था का वाचक हो गया है, निर्गुण साधकों के साहित्य में उनका अर्थ और भी बदल गया है। गगनोपमावस्था योगियों की दुर्लभ सहजावस्था के आसन से यहाँ नीचे उतर आई है। कबीरदास प्राणायाम प्रभृति शरीर-प्रयत्नों से साधित समाधि का बहुत आदर करते नहीं जान पड़ते। जो सहजावस्था शरीर प्रयत्नों से साधी जाती है वह समीप है और शरीर के साथ उसका विलय हो जाता है। यही कारण है कि कबीरदास इस प्रकार की खसमावस्था को सामयिक अनन्द ही मानते थे। मूल वस्तु तो भक्ति है जिसके प्राप्त होने पर भक्त को नाक-कान खँवने की जरूरत ही नहीं होती; कंधा और सुखा-भारण की आवश्यकता ही नहीं होती। वह 'सहज समाधि' का अधिकारी होता है—सहज समाधि, जिसमें 'कहूँ तो नाम, सुनूँ तो सुपरन, जो कुछ कहूँ सो पूजा' ही है। अब तक पूर्ववर्ती साहित्य के साथ मिलाकर न देखने के कारण पंडित लोग 'खसम' शब्द के इस महान् अर्थ को भूलते आए हैं। मैंने उल्लिखित 'कबीर' पुस्तक में विस्तृत भाव से इस शब्द के पूर्वा पर अर्थ का विचार किया है और इसीलिये मैं यह कहने का साहस करता हूँ कि कबीरदास 'खसम' शब्द का व्यवहार करते समय उसके अरथों अर्थ के अतिरिक्त भारतीय अर्थ को भी बराबर ध्यान में रखते रहे हैं। मेरा विश्वास है कि नेपाल और हिमालय की तराइ्यों में जहाँ-जहाँ योगमार्ग का प्रवण प्रचार था, वहाँ के लोक गीत और लोक-कथानकों से ऐसे अनेक रहस्यों का उद्घाटन हो सकता है।

## १७. सामाजिक अवस्था का महत्त्व

पुस्तकों में लिखी बातों से हम समाज की एक विशेष प्रकार की चिन्ताधारा का परिचय पा सकते हैं। इस कार्य को जो लोग हाथ में लेंगे उनमें प्रचुर कल्पना शक्ति की आवश्यकता होगी। भारतीय समाज जैसा आज है वैसा ही हमेशा नहीं था। नये-नये जनसमूह इस विशाल देश में बराबर आते रहे हैं और अपने विचारों और आचारों का कुछ-न-कुछ प्रभाव छोड़ते गए हैं। पुराना समाज व्यवस्था भी सदा एक-सी नहीं रही है। आज जो जातियाँ समाज के सबसे निचले स्तर में विद्यमान हैं, वे सदा वही नहीं रही, और न वे सभी सदा ऊँचे स्तर में ही रही हैं जो आज ऊँची हैं। इस विराट् जन-समुद्र का सामाजिक जीवन बहुत स्थितिविशाल है, फिर भी ऐसी धाराएँ इसमें एकदम कम नहीं हैं जिन्होंने उसकी सतह को आलोकित-विलोकित किया है। एक ऐसा भी जमाना गया है जब इस देश का एक बहुत बड़ा जन-समाज ब्राह्मण धर्म को नहीं मानता था। उसकी अपनी पौराणिक परम्परा थी, अपनी समाज-व्यवस्था थी, अपनी लोक-परोलक भावना भी थी, मुसलमानों के आने से पहले ये जातियाँ हिन्दू नहीं कही जाती थीं—कोई भी जाति तब हिन्दू नहीं कही जाती थी। मुसलमानों ने ही इस देश के रहने वालों को पहले पहल हिन्दू नाम दिया। किसी अज्ञात सामाजिक दबाव के कारण इनमें की बहुत सी अल्प-संख्यक अघोराणिक मत की जातियाँ या तो हिन्दू होने को बाध्य हुई या मुसलमान। इस काल की यह एक विशेष घटना है जब प्रत्येक मानव-समूह को किसी-न-किसी बड़े दल में शरण लेने को बाध्य होना पड़ा। उत्तरी पंजाब से लेकर बंगाल की ढाका कमिश्नरी तक एक अर्द्धचन्द्राकृति भूभाग में मुलाहों को देखकर रिजली साहब ने अपनी पुस्तक 'पीपुल अफ इण्डिया' (पृ० १२६) में लिखा है कि इन्होंने कभी समूहरूप में—इस्लाम

धर्म ग्रहण किया था। कबीर, रज्जस आदि महापुरुष इसी वंश के रख थे। वस्तुतः ही वे 'ना-हिंदू-ना-मुसलमान' थे। सहजपंथी साहित्य के प्रकाशन ने एक बात को अत्यधिक स्पष्ट कर दिया है। मुसलमान-आगमन के अव्यवहित पूर्वकाल में डोम-हाड़ी या हलखोर आदि जातियाँ काफ़ी सम्पन्न और शक्तिशाली थीं। मैं यह तो नहीं कहता कि ग्यारहवीं शताब्दी के पहले वे ऊँची जातियाँ मानी जाती थीं, पर इतना कह सकता हूँ कि ये शक्तिशाली थीं और दूसरों के मानने-न-मानने की उपेक्षा कर सकती थीं।

निर्गुण-साहित्य के अभ्येता को, इन जातियों की लोकोत्तियाँ और क्रिया-कलाप जरूर जानने चाहिए। उसे यह नहीं भूलना चाहिए कि इस अभ्ययन की सामग्री न तो एक प्रान्त में सीमित है, न एक भाषा में, न एक काल में, न एक जाति में और न एक सम्प्रदाय में ही। व्यक्तिगत रूप में इस साहित्य के प्रत्येक कवि को अलग समझने से यह सारा साहित्य अस्पष्ट और अधूरा लगता है। नाना कारणों से कबीर का व्यक्तित्व बहुत ही आकर्षक हो गया है। वे नाना भौति की परस्पर विरोधी परिस्थितियों के मिलन-विंदु पर अवतीर्ण हुए थे, जहाँ से एक ओर हिन्दुत्व निकल जाता है और दूसरी ओर मुसलमानत्व, जहाँ एक ओर ज्ञान निकल जाता है दूसरी ओर अशिक्षा, जहाँ एक ओर योग-मार्ग निकल जाता है दूसरी ओर भक्ति-मार्ग जहाँ से एक तरफ निर्गुण भावना निकल जाती है दूसरी ओर सगुण साधना। उसी प्रशस्त चौरास्ते पर वे खड़े थे वे दोनों ओर देख सकते थे और परस्पर-विपक्ष दिशा में गए हुए मार्गों के दोष-गुण उन्हें दिखाई दे जाते थे। यह कबीरदास का भगवद्भक्त सौभाग्य था। वे साहित्य को अक्षय प्राणरस से आप्लावित कर सकते थे। पर इसीकी सब-कुछ मानकर यदि हम चुप बैठ जायें तो इसे भी जीक-डीक नहीं समझ सकेंगे।

## १८. जातिभेद की कठोरता और उसकी प्रतिक्रिया

यदि निर्गुणिया सन्तों की वाणियों का सामाजिक अध्ययन के लिये विश्लेषण किया जाय तो एक बात स्पष्ट हो जाएगी कि इन वाणियों को रूप देने में मध्यकालीन सामाजिक स्तरभेद की कठोरता का बड़ा हाथ है। प्रायः सभी सन्त-समाज के उस स्तर से आए वे जो आर्थिक और सामाजिक दोनों ही दृष्टियों से अत्यन्त निचले भाग में थे। व्यक्तिगत रुचि और संस्कार के कारण इस कठोर स्तरभेद की प्रतिक्रिया भिन्न-भिन्न रूप में हुई है पर सबमें इस व्यवस्था के प्रति विद्रोह का भाव है। केवल माना का ही भेद है।

मध्यकाल में जातियों और उपजातियों की सीमाएँ जो बढ़ती गईं और कठार से कठोरतर होती गईं उसके अनेक कारण हैं। सबकी थोड़ी-बहुत चर्चा किए बिना उसके मध्यकालीन रूप को समझना संभव नहीं है। इसीलिये थोड़ा आगे-पीछे जाने में यहाँ सकोच नहीं किया जा रहा है।

मध्यकाल की इस विशेषता को समझने के लिये दो प्रकार से प्रयास किया जा सकता है। प्रथम तो यथासंभव पुराने जमाने के अर्ध-विस्मृत इतिहास से इस प्रथा का मूल और उसका कम-विकास देखकर हम उसका मध्यकालीन रूप समझ सकते हैं। परन्तु फटिनाई यह है कि 'पुराने जमाने' की कोई सीमा नहीं है और उसके बारे में हम जो कुछ भी समझ करते हैं उसकी पूर्णता के बारे में संदेह बना ही रहता है। हमेशा कुछ छूट जाने की संभावना बनी रहती है। इसलिये उससे पूरा चित्र स्पष्ट नहीं होता। इसीलिये विद्वानों ने एक दूसरा उपाय भी सोचा है। हमें अशात पर बहुत अधिक भरोसा न करके शात का अध्ययन करना चाहिए और आधुनिक काल की सामाजिक व्यवस्था हमारी सर्वाधिक शात वस्तु है सो, अशात को इस शात के सहारे खोजना चाहिए इस दृष्टि से आधुनिक जातिभेद व्यवस्था की जानकारी आवश्यक है

आगे हम दोनों ही रूपों में इस विषय का अध्ययन करने का प्रयत्न कर रहे हैं। इस अध्ययन के अन्त में आधुनिक जातियों की नामावली और उसका विश्लेषण भी सुविधा के लिये जोड़ रहे हैं।

इस महादेश के विशाल जन-समूह में आर्यों के बाद भी अनेकानेक जातियाँ उत्तर-पश्चिम की ओर से आकर इस देश में बस गई हैं। इनमें की अधिकांश जातियों ने वैदिक आर्यों के धर्म और समाज-विधान को आंशिक रूप से स्वीकार कर लिया है। जिन पंडितों ने नृत्तर्व्य विज्ञान की दृष्टि से भारतीय जन-समूह का अध्ययन किया है उन्होंने लक्ष्य किया है कि इस समूचे जन-समूह में सात प्रकार के चेहरे पाये जाते हैं। (१) तुर्क-ईरान टाइप; जिसमें सीमान्त और बलूचिस्तान के बलूच, ब्राहूई, और अफगान शामिल हैं, शायद फारसी और तुर्की जातियों के मिश्रण से बना है। (२) हिन्द-आर्य टाइप; जिसमें पंजाब, राजपूताना और काश्मीर के खत्री, राजपूत और जाट शामिल हैं। (३) शक-द्रविड़ टाइप; जिसमें पश्चिम भारत के मराठे ब्राह्मण, कुनबी, कुर्ग आदि शामिल हैं, शक और द्रविड़ जातियों के मिश्रण से बना है। (४) आर्य-द्रविड़ टाइप; जिसमें उत्तरप्रदेश, कुछ राजस्थान, बिहार आदि प्रदेशों के लोग हैं। इनका उच्चतम स्तर हिन्दुस्थानी ब्राह्मणों से और निम्नतम स्तर चमारों से बना है। ये आर्य और द्रविड़ जातियों के मिश्रण से बने हैं। (५) मंगोल-द्रविड़ टाइप; जिसमें बङ्गाल-उड़ीसा के ब्राह्मण और कायस्थ तथा पूर्वा बङ्गाल और असम के मुसलमान हैं, शायद मंगोल-द्रविड़ और आर्य रक्त के मिश्रण से बना है। (६) मंगोल-टाइप; जिसमें नेपाल, असम, बर्मा की जातियाँ हैं। (७) द्रविड़ टाइप; जिसमें गंगा की घाटी से लेकर सिन्ध तक मद्रास, हैदराबाद मध्य-प्रदेश आदि की जातियाँ शामिल हैं (रिज्ली; पीपुल आफ इण्डिया पृ० ३१-३३)। अब यह स्पष्ट है कि यद्यपि हिन्दुओं के धर्मशास्त्र के नाम पर सिर्फ आर्यों के संस्कृत ग्रंथ ही पाये जाते हैं तथापि समूची भारतीय जनता उन ग्रंथों के प्रतिपाद्य से अधिक विस्तृत है। पहले वैदिक साहित्य से शुरू किया जाय।

न जाने कबसे भारतवर्ष में यह प्रथा रूढ़ हो गई है कि किसी भी

विषय का मूल वेदों में खोज निकालने का प्रयत्न किया जाता है आधुनिक शोधों से इस प्रथा को और भी बल मिल गया है। भारतीय समाज की सबसे जटिल और महत्वपूर्ण विशेषता—इस जातिभेद को भी वेदों से खोज निकालने का प्रयत्न किया गया है। पर इस विषय में बड़ा भारी मतभेद है। भारतीय परिदृष्टि में तो इस विषय में काफी मतभेद होना स्वाभाविक ही है, क्योंकि जाति-भेदवाली प्रथा उनके लिये केवल पांडित्य-प्रदर्शी बाद विवाद या समानशास्त्रोप कुतूहल का विषय नहीं है, बल्कि एक ऐसी बात है जिसकी अच्छाई या बुराई उसके राष्ट्रीय जीवन-मरण का प्रश्न है, किन्तु विदेशी पंडित भी इस विषय में एकमत नहीं हैं। किसी-किसी के मत से इस प्रथा का कोई भी उत्प्रेक्ष्य समूचे वैदिक साहित्य में नहीं है। पर दूसरों के मत से जाति-भेद का मूल घोज वैदिक साहित्य में वर्तमान है। यस्तुतः जाति प्रथा का कोई एक मूल नहीं है। इसीलिये उसके भिन्न-भिन्न पहलुओं के मूल भिन्न-भिन्न स्थानों पर खोजने चाहिये। अहाँ तक वर्तमान लेखक ने अपने साहित्य को समझा है, यहाँ तक उसे यह कहने में संकोच नहीं कि वैदिक साहित्य में इस प्रथा के कुछ मूल घोज जरूर वर्तमान हैं, परन्तु उस युग में यह प्रथा धर्म और समाज का इतना अवर्द्धत अंग निश्चय ही नहीं थी। समस्त वेदों, ब्राह्मणों, उपनिषदों और धर्म-शास्त्र-शांत सूत्रों में शायद ही कहीं जाति शब्द का व्यवहार आधुनिक अर्थ में हुआ हो। यहाँ यह इशारा भी नहीं किया जा रहा है कि वैदिक साहित्य में बराबर आनेवाले चार वर्णों के नाम को ही जाति-प्रथा का मूल रूप माना जाय, क्योंकि वर्ण और जाति को समानार्थक शब्द नहीं माना जा सकता। परन्तु यह कहने में कोई संकोच नहीं कि वर्ण-व्यवस्था जातिभेद के बहुत से लक्षणों के जटिल होने के लिये उत्तरदायी जरूर है। मूल संहिताओं, ब्राह्मणों और उपनिषदों में ब्राह्मण, क्षत्रिय या राजन्य, विशू या वैश्य तथा शूद्र इन चार वर्णों का भूतिशः उल्लेख है। इनके अतिरिक्त अन्य जातियों की चर्चा तो नहीं है, पर प्रसङ्ग-क्रम से चाण्डाल, पौलकस, निषाद, दास, शबर, भिषज्, रयकार और वृषल शब्दों का प्रयोग इस प्रकार किया गया है जिससे जान पड़ता है कि ये चार वर्णों से बाहर हैं।



अगर हम जातिभेद के आधुनिक रूप का विश्लेषण करें, तो तीन प्रधान लक्षण स्पष्ट हो जान पड़ेंगे। (१) जन्म की प्रधानता, (२) छुआछूत, (३) अन्य जाति में विवाह-सम्बन्ध का निषेध। वस्तुतः इन तीनों बातों का कोई-न-कोई रूप वैदिक साहित्य में मिल जाता है। जन्म की प्रधानता को हम फिलाहाल छोड़ते हैं, क्योंकि वह विवाह के प्रश्न से अत्यधिक सम्बद्ध है यहाँ बाकी दो लक्षणों के विषय में चर्चा की जायगी।

---

## १६. स्पृश्यास्पृश्य-विचार

छुआछूत का विश्लेषण किया जाय तो स्पष्ट ही जान पड़ेगा कि उनके चार मोटे-मोटे स्तर हैं; इन स्तरों के और भी कई परत हैं। चार मोटे स्तर ये हैं—(१) वे जातियाँ जिनके देखने से ऊँची जाति के आदमी का अन्न और शरीर दोषयुक्त हो जाते हैं, (२) वे जातियाँ जिनके छूने से ऊँची जाति के आदमी का शरीर अपवित्र हो जाता है, (३) वे जातियाँ जिनके छूने से ऊँची जाति के आदमी का शरीर तो नहीं पर पानी या धृतपक्क अन्न दोषयुक्त हो जाते हैं और (४) वे जातियाँ जिनके छूने से पानी या धृतपक्क अन्न तो नहीं, परन्तु कशी रसोई दोषयुक्त हो जाती है। ये उत्तरोत्तर भेद होती हैं। विशेष ध्यान देने की बात यह है कि ऐसा प्रायः देखा गया है कि एक ही जाति जो बंगाल में तीसरे स्तर में है, मद्रास में दूसरे में और राजस्थान में चौथे में। इसपर से यह अनुमान करना भिन्नकुल उचित ही है कि यद्यपि हिन्दू-शास्त्रों की प्रवृत्ति-तत्त्वजातियों के समूह को हमेशा के लिये स्थिर कर देना रही है, तथापि व्यवहार में कारणवश यह कठोरता कम या अधिक भी होती रही है। इस तरह उदाहरणों को मूल में अन्यत्र दिलाने का प्रयास किया गया है यहाँ प्रकृत बात है, वैदिक साहित्य में वर्णित छुआछूत।

यह प्रायः सर्ववादि सम्मत मत है कि समूची संहिताओं और ब्राह्मणों तथा उपनिषदों में इस प्रकार की छुआछूत का उल्लेख नहीं मिलता। धर्म-सूत्रों में संसर्ग-दुष्ट, काल-दुष्ट और आभय-दुष्ट इन तीन प्रकार के दोषयुक्त अन्न को अभोज्य बताया गया है इनमें आभय-दुष्टता में छुआछूत का कुछ आभास मिलता है। गौतम धर्मसूत्र में संसर्ग-दुष्ट और काल-दुष्ट अन्न का वर्णन करने के बाद सूत्रकार ने दो और सूत्र लिखे हैं, जिनमें उन आभयों का उल्लेख है जिनके यहाँ अन्न अभोज्य हो जाता है ( गौतम-धर्मसूत्र १७।१५-१६ )।

वशिष्ठ धर्मशास्त्र में ( १४ १-४ ) में भी अभोजयानों की एक लम्बी सूची दी हुई है। परन्तु उसी अध्याय में शास्त्रकार ने ऐसे अनेक ऐतिहासिक उदाहरण दिये हैं (जैसे अगस्त मुनि का मृगया करने पर भी अपवित्र न होना) जिनसे स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन काल में इन नियमों के पालन में काफी शिथिलता थी। इसी प्रकार आपस्तम्ब धर्मसूत्र में भी ऐसे बहुत से कर्म और जीविकार्ण हैं, जिनके करने वालों का अन्न अभोज्य मतलाला गया है। उक्त सूत्र में एक मनोऽङ्गक बात यह है कि एक स्थान पर ( २,६ १८६ ) ब्राह्मण के लिये क्षत्रियादि तीनों वर्णों का अन्न अभोज्य बताया गया है, फिर आगे चलकर दो बातें उद्धृत की गयी हैं। पहले में कहा गया है कि—सर्ववर्णानां स्वधर्मे वर्तमानानां भोक्तव्यं शूद्रवर्ज्यमित्येके ( १,६,१२ ) अर्थात् किसी-किसी आचार्य के मत से शूद्र को छोड़कर स्वधर्म में वर्तमान सभी वर्णों का अन्न ग्रहण किया जा सकता है और दूसरे में ( २,६,१२ ) कहा गया है कि 'तस्यापि अर्धोपनतस्य' अर्थात् दूसरे आचार्यों का मत है कि शूद्र भी अगर अपना धर्मपालन करता हो तो उसका अन्न ग्रहणीय है। इन सूत्रों पर अगर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करें तो स्पष्ट ही जान पड़ेगा कि सूत्र-काल में दृष्टादृत से अपवित्र होने की भावना हट होली जा रही थी; पर उसके विषय में माना प्रकार के मतभेद तब भी वर्तमान थे। यह ध्यान देने की बात है कि इन सूत्रों में केवल अन्न के दुष्ट होने का ही उल्लेख है, अन्योन्य प्रकार के शर्शदोष जिनका ऊपर उल्लेख हो चुका है, उन दिनों उद्भावित नहीं हुए थे। ऐसा जान पड़ता है कि शर्शदोष शुरू में नहीं माना जाता था। शोध में माना जाने लगा। परन्तु वैदिक साहित्य के अन्तिम भाग जब बन रहे थे उन दिनों शर्शदोष की भावना जटिल नहीं हुई थी।

## २०. अन्तरजातीय विवाह

अब इसके दूसरे प्रधान लक्षण—अन्तरजातीय विवाह के विषय में विचार किया जाय। वस्तुतः जातिभेद बताने वाले प्राचीन दृष्टिकोण को समझने के लिये यह विषय सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। मनुस्मृति में लगभग ६ दर्जन जातियों और ब्रह्म वैवर्त पुराण आदि में शताधिक जातियों की उत्पत्ति वर्यों के अन्तरजातीय रक्त-मिश्रण से ही बतायी गयी है। किसी-किसी आधुनिक नृतत्व विज्ञानी ने भी कहा है कि भारतवर्ष की जातियों का मूल रक्त के सम्मिश्रण से ही हुआ है। प्रसिद्ध नृतत्वविद् विज्ञानी का भी यही मत है। उन्होंने इसी सिद्धान्त के आधार पर यह स्थिर किया है कि जो जाति जितनी ही ऊँची समझी जाती है, उसमें आर्य रक्त का उतना ही आधिपत्य है और जो जितनी ही छोटी समझी जाती है, उसमें उतना ही कम।

मनुस्मृति और उसके बाद के धर्मशास्त्र में जातियों को 'भिन्न-भिन्न' वर्णों के प्रसार या 'परमुटेशन-कमिनेशन' से उत्पन्न बताया गया है। इसका अगर विश्लेषण करें, तो मन्वादि शास्त्रों के मत से निम्नलिखित पाँच प्रकार से जातियाँ बनी हैं :—

- ( १ ) वर्यों के अनुलोम विवाह-जन्य जातियाँ।
- ( २ ) वर्यों के प्रागलोम विवाह-जन्य जातियाँ।
- ( ३ ) वर्यों की संस्कार-भ्रंशता-जन्य जातियाँ।
- ( ४ ) वर्यों में से निकले हुए व्यक्तियों की सन्तानें।
- ( ५ ) भिन्न-भिन्न जातियों के अन्तरजातीय विवाह-जन्य जातियाँ।

इससे इतना तो स्पष्ट ही है कि वर्यों में रक्त-मिश्रण हुआ है। शुरू-शुरू में ऐसा विधान था कि उच्च वर्ण के लोग अपने-अपने वर्ण के अतिरिक्त निचले वर्णों की स्त्रियों से भी विवाह किया करते थे। मनुस्मृति में भी यह व्यवस्था है, पर साथ ही इस स्मृति में ब्राह्मणादि वर्यों का शूद्रा-सहवास

निषिद्ध भी बताया गया है। ऐसा जान पड़ता है कि वर्ण-संकरताका जो दोष आगे चलकर बहुत विकट रूप धारण कर गया, वह शुरू में ऐसा नहीं था। ब्राह्मणों और उपनिषदों में पिता के वर्ण के अनुसार पुत्र का वर्ण माना जाता था। वैदिक साहित्य में इस प्रकार के अनुलोम-विवाहोत्पन्न सन्तानों का जो रिता वर्ण ही माना जाता था, इसके कई उदाहरण मौजूद हैं। प्रतिलोम विवाह के उदाहरण बहुत कम देखने में आते हैं।

किमी-किसी परिदृष्टि में पारस्कर और गोभिल के ग्रन्थसूत्रों में से अन्तरजातीय विवाहके प्रमाण निकाले हैं। परन्तु अन्तरजातीय विवाहका अगर प्रतिलोम विवाह भी अर्थ हो तो यह यत्तव्य कुछ विवादास्पद हो जाता है। ऐतरेय ब्राह्मण में (२-१६-१) कवस को दासी पुत्र बताया गया है, पर इससे उनके ब्राह्मण होने में कोई बाधा नहीं पड़ी। इस तरह पञ्चविंश ब्राह्मण (१४-६-६) में वसु का शूद्र से उत्पन्न होना बताया गया है। आशाला नामक दासी के पुत्र सत्यकाम को, जिसके पिताका कोई पता नहीं था, हारीतद्रुम ने सत्यवादी बोलकर ब्राह्मण रूप में अपना शिष्य स्वीकार किया था, यह कथा बहुत प्रसिद्ध है (छान्दोग्य ४-४-४)। शर्मात पुत्री क्षत्रिय सुकन्या ने ब्राह्मण-व्यवहन से विवाह किया था, यह कथा न केवल महाभारत और पुराणों में पायी जाती है बरन् शतपथ ब्राह्मण (४-१-५-७) में भी कही गयी है। इसी प्रकार रथवती की पुत्री ने श्यावाश्व से विवाह किया था (बृहद्देवता ५-५.०)। इस प्रकार के अनुलोम-विवाह की चर्चा कई जगह वैदिक साहित्य में आयी है, पर कहीं भी ऐसी ध्वनि नहीं है कि इन अनुलोम-विवाहों से उत्पन्न सन्तान किसी तीसरी जाति की हो जाती थी। आचार्य क्षितिमोहन सेन ने अपनी पुस्तक में इस विषय के और भी नीतियों उदाहरण संग्रह किये हैं। पर ऐसा जान पड़ता है कि धर्म और ग्रन्थसूत्रों के काल तक आकर अनुलोम और प्रतिलोम विवाहों के सांकर्य से अन्य जाति के बन जाने की धारणा बढमूल होने लगी थी।

इन वर्णसंकर जातियों के विषय में जो शास्त्रीय विचार है, उससे प्रकट है कि यह संकरता तीन प्रकार की हो सकती है—(१) माता-पिता दोनों दो शुद्ध वर्णों के व्यक्ति हों, (२) एक शुद्ध वर्ण और दूसरा वर्णसंकर हो,

और (३) दोनों वर्णसंकर हों। वशिष्ठ धर्मशास्त्र में दस वर्णसंकर जातियोंकी चर्चा है और गौतम धर्मसूत्र ने दो मत उद्धृत किये हैं—एक के अनुसार वर्णसंकर जातियाँ दस थीं और दूसरे के अनुसार चारह। परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि इन दोनों शास्त्र-वाक्यों में ऊपर बताते हुए तीन प्रकारों में से केवल पहले को लक्ष्य किया गया है। बौधायन ने जरूर इन तीनों प्रकार के वर्णसंकरों की चर्चा की है, पहली श्रेणी के ग्यारह, दूसरी के दो और तीसरी के भी दो।

हम इन जातियों की सूची देकर पाठकों को नीरस धर्मशास्त्राव बखेड़ों में नहीं ले जाना चाहते। इनकी चर्चा केवल इसलिये की गयी है कि पाठक इस बात को अच्छी तरह मन में बैठालें कि वर्णसंकरता की भावना धीरे-धीरे बलवत्तर होती जा रहा थी।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे केवल इतना ही सिद्ध होता है कि वैदिक साहित्य के अन्तिम अंश जिन दिनों बन रहे थे उन दिनों सामाज में स्पृष्टास्पृश्य और वर्णसंकरता के प्रति स्तर्कता की भावना बढ़ रही थी। पर इससे इन हजारों जातियों और उनके तथोधिक विचित्र आचारों के विषय में कुछ विशेष नहीं जाना जाता। आचार्य सेन ने नाना शास्त्रीय और अर्वाचीन प्रमाणों से सिद्ध कर दिया है कि जातिभेद को वर्तमान रूप में आने देने की मनोवृत्ति आर्यों में अपने आर्येतर पड़ोसियों से आयी है।

## २१. वर्तमान जन-समूह

इस महा जन-समूह का वैज्ञानिक अध्ययन करने के लिये कई प्रकार के वर्गीकरण सुझाये गये हैं। रिजली ने इस प्रकार वर्गीकरण किया था—(१) वे जातियाँ जो किसी कबीले का परिवर्तित रूप हैं। आज़ीर एक विशेष मानव भेदी थी जो घूमती-घामती इस देश में पहुँची। यहाँ आकर वह विशाल हिन्दू समाज की एक जाति बन गयी। इस प्रकार की जातियों की विशेषता यह होती है कि वे भीतरी मामलों में अपना विशेष प्रकार का सामाजिक संगठन और नीति-नीति का निर्वाह करती रहती हैं। केवल आंशिक रूप से ब्राह्मण-भेदता मान लेती हैं। विवाह, धाड़ आदि के व्यवहार पर वे ब्राह्मणों की सुलाती हैं पर कभी-कभी इतना भी नहीं होता। डोम या दुसाध या भूमिज आदि जातियाँ ऐसी हैं जिन्होंने ब्राह्मण भेदता को स्वीकार कर लिया है, पर शायद ही उनके किसी अनुष्ठान से ब्राह्मणों का सम्पर्क हो। (२) कुछ ऐसी जातियाँ हैं जो विशेष प्रकार के कार्यों के करने के कारण एक विशेष भेदी की हो गयी हैं। मज़ी, चमार, लुहार आदि जातियाँ वस्तुतः भिन्न-भिन्न व्यवसायों के कारण बनी हुई जान पड़ती हैं। ये जातियाँ हिन्दू समाज में इतनी अधिक हैं कि कभी-कभी इसी आधार पर समूची जनता का विभाजन किया गया है। (३) कुछ ऐसी जातियाँ हैं जो मूलतः कोई धार्मिक सम्प्रदाय थी। अतीथ एक तरह के गृहस्थ संन्यासियों की जाति है। ब्रह्मल के ब्रोस्टम वैष्णव के सम्प्रदाय के परिवर्तित जाति रूप हैं। दक्षिण भारत के लिङ्गायत भी ऐसे ही शैव साधु हैं। (४) कुछ ऐसी जातियाँ हैं जो दो जातियों के मिश्रण से बनी हैं। यद्यपि आजकल प्राचीन शास्त्रकारों के द्वारा पुनः-पुनः व्याख्यात वर्णसंस्कार जाति के सिद्धान्त को नहीं मानने का फैसला-सा चल पड़ा है तथापि ऐसी सैकड़ों जातियाँ और उपजातियाँ हैं जो वस्तुतः ही दो जातियों के मिश्रण से बनी हैं। रिजली ने ऐसी जातियों की समीचीन सूची दी है। उदाहरणार्थ,

मंडा जाति की नी शाखायें हैं जिनके नाम हैं—खझार-मुंडा, खरिया-मुंडा, कोंकपत-मुंडा, सद-मुंडा, सवर मुंडा, करझ-मुंडा, महिला-मुंडा, नामवसी-मुंडा और ओरॉंव-मुंडा। ये नाम ही सूचित करते हैं कि मुंडा जाति के साथ इन जातियों का मिश्रण हुआ है, (५) ऐसी भी जातियाँ हैं जिन्हें राष्ट्रीय जाति या 'नेशनल कास्ट' कहा जा सकता है रिजली ने कहा है कि जिस देश में किसी प्रकार की राष्ट्रीय भाषना विद्यमान नहीं है वहाँ 'राष्ट्रीय जाति' का होना एक विरोधाभास जैसी बात है। परन्तु भारतवर्ष में ऐसी जातियाँ पायी जाती हैं जो वस्तुतः एक राष्ट्रीय इकाई की भग्नशेष हैं। नेपाल के नेवार ऐसी ही जाति है, इनमें कई ऊँची-नीची और मध्यवर्ती जातियाँ हैं और हिन्दू और बौद्ध दोनों धर्म प्रचलित हैं। इसी प्रकार विदेशी पण्डितों ने पश्चिम भारत मराठा जाति को भी एक राष्ट्रीय जाति माना है (६) कुछ ऐसी भी जातियाँ हैं जो वस्तुतः मूल निवासस्थान से दूर जाकर बस गयी हैं और इसीलिये मूल जाति से उनका सम्बन्ध टूट गया है और इस प्रकार एक नवीन जाति के रूप में बदल गयी हैं। ऐसी जातियों के उदाहरण प्रत्येक प्रदेश में प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं (७) फिर ऐसी भी जातियाँ हैं जो रीति नीति का ढीक पालन न करने के कारण मूल जाति से अलग कर दी गयी हैं और इस प्रकार एक नयी जाति के रूप में बदल गयी हैं। इसी प्रकार की आचार भ्रष्ट जातियों को मन्वादि धर्मशास्त्रों में व्रात्य कहा गया है। ऐसे व्रात्यों के वहाँ यजन-याजन करनेवाला व्राह्मण प्रायश्चित्ती बताया गया है।

कभी-कभी विधवा विवाह के प्रश्न पर एक ही जाति की दो शाखायें हो गयी हैं। जो शाखा विधवा-विवाह करती है वह अधम और जो नहीं करती वह उत्तम मानी जाती है। आधुनिक काल में देखा गया है कि छोटी जातियों में से कुछ एक विधवा-विवाह की चलन बन्द करके ऊँची जाति होने का दावा करने लगी हैं।

इस प्रकार इस महादेश की जातियों के सैकड़ों स्तर हैं। नाना पण्डितों ने नाना भाव से इस अनन्य-साधारण भारतीय विशेषता का अध्ययन किया है। रिजली साहब ने अपने अद्भुत पारित्यपूर्ण अध्ययन के अन्त में इस जाति



मेद के सम्बन्ध में निम्नलिखित नौ सिद्धान्त निश्चित किये थे । आचार्य सेन के ग्रन्थ के पाठकों को इन सिद्धान्तों का सारांश इस प्रकार है—

( १ ) इस देश के निवासियों की शारीरिक विशेषताओं के सात टाइप हैं (ऊपर देखिये), जिनमें केवल द्रविड़ टाइप ही विशुद्ध देशी टाइप है । हिन्द-आर्य, मङ्गोल और तुर्क-ईरानी टाइप प्रधानतः विदेशी हैं, बाकी तीन अर्थात् आर्य-द्रविड़, शक-द्रविड़ और मङ्गोल-द्रविड़ टाइप द्रविड़ जातियों के साथ विदेशी जातियों के मिश्रण से बने हैं ।

( २ ) इन विशेष टाइपों के बनने में भारतवर्ष का प्राकृतिक भाव से अन्य देशों से अलगगर्भ का प्रभाव प्रभाव रहा है । इस अलगगर्भ का नतीजा यह हुआ है कि मत्स्येक आक्रमणकारी जाति अपने साथ बहुत कम स्त्रियों को ले आ सकी है और इसीलिये इस देश की स्त्रियों से विवाह करने को बाध्य हुई है ।

( ३ ) इस नियम का एकमात्र अपवाद हिन्द-आर्यों का प्रथम दल रहा है ।

( ४ ) भारतीय जन समूह के सामाजिक संरूढन में ये दोनों प्रकार की जातियाँ हैं जिन्हें अंग्रेजी शब्द 'द्राव्ह' और 'कास्ट' से सूचित किया जाता है ।

'अंग्रेजी का 'कास्ट' (Caste) शब्द उस भाषा में भी गया ही है । यह ठीक उसी वस्तु का चोतक है जिसे हम हिन्दी में 'जाति' शब्द से समझते हैं । इस शब्द की एक कहानी है । पास्को-डि-गामा के साथ जो पोर्चुगीज भारतवर्ष के पश्चिमी किनारे पर आये उन्होंने इस देश के निवासियों में यह विचित्र प्रथा देखी । इसे समझाने के लिये गोआ की कौंसिल के रिपोर्ट में Castas या Caste शब्द का प्रयोग किया गया था यह शब्द लैटिन के Castus शब्द पर से बनाया गया था और संशुद्धि के अर्थ में प्रयोग किया गया था । इस शब्द की व्याख्या में पोर्चुगीज यात्रियों ने छुआछूत की प्रथा को ही अधिक सहस्य का माना था । तब से यूरोप में 'जाति' शब्द के साथ छुआछूत की भावना का ही प्रधान रूप से सम्बन्ध माना जाता रहा है, यद्यपि जाति का छुआछूत की अपेक्षा विवाह और जन्म से अधिक घनिष्ठ और अविच्छेद्य सम्बन्ध है ।

[भारतीय जाति-विशान के विदेशी आलोचकों ने 'द्राह्व' शब्द को इस प्रकार समझाया है—द्राह्व परिवर्णों या परिवार-समूहों का एक ऐसा दल है जो किसी एक ऐतिहासिक पुरुष, या पौराणिक व्यक्ति या किसी विशेष टोटेम के सन्तान रूप में अपना परिचय देता है। ये साधारणतः एक ही भाषा बोलते हैं, एक ही रीति-नीति का पालन करते हैं और एक विशेष प्रदेश को अपना मूल स्थान बताते हैं। एक द्राह्व का पुरुष या स्त्री दूसरी द्राह्व की स्त्री या पुरुष से विवाह कर सकता है। परन्तु 'कास्ट' में यह बात सम्भव नहीं है। एक कास्ट का व्यक्ति दूसरी 'कास्ट' के व्यक्ति से वैवाहिक सम्बन्ध नहीं कर सकता। पर ऐसा हो सकता है कि एक ही कास्ट के दो ऐसे कुल हों जो अपना मूल पुरुष दो भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को बताते हों। आभीर (अहीर) मूलतः एक द्राह्व थी जो अब 'कास्ट' में परिणित हो गई है। 'ब्राह्मण' या यजिया कभी भी 'द्राह्व' के रूप में नहीं थे। हिन्दी में द्राह्व के लिये 'सगोत्र जाति' या कभीला और 'कास्ट' के लिये सिर्फ 'जाति' शब्द का व्यवहार किया सकता है।]

( ५ ) सगोत्र जाति और साधारण जाति दोनों ही अन्तर्विवाह, वहिर्विवाह और अनुलोम विवाहवाले उपविभागों में विभक्त पाये जाते हैं। [अन्तर्विवाह जहाँ एक जाति का व्यक्ति उसी जाति के व्यक्ति से विवाह करने को बाध्य है, वहिर्विवाह जहाँ एक जाति का व्यक्ति अपनी जाति से बाहर विवाह करने को बाध्य है और अनुलोम विवाह जहाँ एक जाति की स्त्री केवल अपने समान या उस वर्ग के पुरुष से विवाह को बाध्य है, निम्नतर वर्ग से नहीं।]

( ६ ) वहिर्विवाह वाली जातियों में की अधिकांश जातियाँ 'टोटेमिस्ट' हैं [टोटेम शब्द की व्याख्या के लिये आचार्य सेन की पुस्तक का पृ० १०५ देखिये]।

( ७ ) जातियों का वर्गीकरण केवल सामाजिक भेदता के आधार पर किया जा सकता है पर समूचे भारतवर्ष की जातियों के वर्गीकरण की कोई एक योजना नहीं बनाई जा सकती।

( ८ ) जातियों के सम्बन्ध में स्मृतियों और पुराणों में जो सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं, अर्थात् जातियों सङ्करतावश या भिन्न-भिन्न जातियों के अन्तरजातीय विवाह के कारण बनी हैं, वे शायद ईरान से लिये गये हैं। अद्यपि

इसका वस्तुस्थिति से कोई अधिक सम्बन्ध नहीं है तथापि भारतवर्ष में यह सिद्धान्त सर्वत्र माना जाता है।

( ६ ) जातिभेद का मूल-अनुसन्धान एक ऐसी समस्या है जिसका समाधान कठिन है हम लक्ष्य किये तथ्यों की आंशिक समानता पर से सिर्फ ऐसे अनुमान भिन्न सकते हैं जो कम या ज्यादा सम्भव जान पड़ते हैं जो सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं वे इन तीन बातों पर अवलम्बित हैं—(क) कुछ विशेष-विशेष जातियों के अथवा विभाग और विशेष-विशेष शारीरिक विशेषताओं (जिनके द्वारा मानवमण्डलियों की वैज्ञानिक परस्पर की जाति है) के सम्बन्ध परस्पर से; (ख) भिन्न-भिन्न रङ्गों की मिश्रित जातियों के विकास पर से; और (ग) परम्परा-प्राप्त दन्तकथाओं पर से।

किन्तु भारतीय जन-समूह का नृत्वज्ञ विज्ञान की दृष्टि से किया गया अध्ययन जितना भी महत्वपूर्ण और मनोरंजक क्यों न हो वह है एकांगी ही। इस विशाल जन समूह के बन्दे में यहाँ के धर्म, आचार, रीति-नीति और सबके ऊपर इसके अनेक व्यक्तियों द्वारा रचित साहित्य का जबरदस्त प्रभाव है। भारतीय जनता का अध्ययन करना हाँ तो उसके विराट् साहित्य, निरवच्छिन्न लोकगाथाएँ, कला-कौशल, इतिहास-पुरातन्त्र आदि के साथ ही उसकी बर्तमान और भाषाओं का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है जातिभेद की प्रथा को रूप देने में यहाँ की पारिवारिक व्यवस्था भी उसे प्रभावित कर रही है।

## २२. अवतारवाद

अवतार की भावना मध्यकाल में अत्यन्त प्रचल रूप में प्रकट हुई है, यद्यपि यह मध्यकाल की उपज नहीं कही जा सकती। वैदिक साहित्य में इसकी बहुत कम चर्चा मिलती है। दो देवताओं के अमेद के रूप में ही जो लोग इसका ग्रीज लोजते हैं उनका मत बहुमान्य नहीं कहा जा सकता ऐसा लगता है कि यह धारणा वैदिकोत्तर काल में ही पुष्ट हुई है कि भगवान् मनुष्य का या मनुष्येतर जीव का प्राथम रूप ग्रहण करके भक्तों का उद्धार करते हैं, धर्म की स्थापना और पापियों का संहार करते हैं। गीता में अवतार के ये ही उद्देश्य बताए गए हैं। इस विश्वास में किसी आर्येतर संस्कृति का कितना हाथ है, यह कह सकना कठिन है। परन्तु इतना स्पष्ट है कि बहुत धीरे-धीरे अवतारवाद ने समूचे आर्यावर्त के प्रधान विश्वास का रूप धारण किया है। महाभारत के नारायणोपासधान में ६ अवतारों की चर्चा है। ये छः हैं—वराह, नृसिंह, वामन, भार्गव राम (परशुराम), दाशरथि राम, और बामुदेव कृष्ण। इसके बाद ही एक और स्थल है जहाँ दस अवतारों की चर्चा है। ऊपर वाले ६ अवतारों के अतिरिक्त ४ और अवतार ये बताए गए हैं—इंस, कूर्म, मत्स्य और कल्कि। ऐसा अनुमान किया गया है कि यह अंश मल्लिभ होगा (वेष्णविक्रम शैविज्म ऐपेइ माइनर सेक्ट्स ० पृ० ५६)। हरिवंश में भी ६ ही अवतारों की चर्चा है। बाद में सभी पुराणों में अवतारों की संख्या दस निश्चित मान ली गई है। परवर्ती काल में नामों में थोड़ा परिवर्तन होता रहा है किन्तु साधारणतः संख्या दस अवश्य रही है। आजकल जो दस अवतार माने जाते हैं जिनमें मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि की गणना है, संभवतः सबसे पहले वराह पुराण में मिलते हैं। अग्निपुराण में भी इनकी चर्चा है। भागवत पुराण में तीन बार अवतारों का उल्लेख है। प्रथम स्कंध के तृतीय अध्याय में २२ अवतारों के नाम देने के

बाद पुराणकार ने कहा है कि भगवान् के अवतार तो असंख्य हैं। इन बाईस अवतारों में नारद भी हैं जिन्होंने नैष्कर्म्य स्थापक सात्वत मार्ग का उपदेश दिया था, भिक्षु शकिल भी हैं जिन्होंने आसुरि को साव्य ज्ञान सिखाया था, दशमेय भी हैं जिन्होंने आन्वीक्षिकी विद्या सिखाई थी, श्रवभ भी हैं जिन्होंने सर्वाश्रम-नमस्कृत धीरों के मार्ग को दिखाया था और बुद्ध तो हैं ही,—इस प्रकार विभिन्न मतों के उपदेष्टा सभी आचार्यों को भगवान् का अवतार मान लिया गया है। द्वितीय स्कंध के सातवें अध्याय में ब्रह्मा की स्तुति है जिसमें अत्यन्त सुन्दर कवित्वपूर्ण भाषा में अवतारों की चर्चा है इनकी संख्या तेईस है पर अन्त में बताया गया है कि ये अवतार २४ हैं। एकादश स्कंध के नवें अध्याय में केवल १६ अवतारों के नाम गिनाए गए हैं।

भागवत पुाण मध्यकाल का सबसे अधिक प्रभावशाली शास्त्र ग्रंथ रहा है। इस पुराण के अनुसार भगवान् वैकुण्ठ आदि धामों में तीन रूपों में रहते हैं—स्वयं रूप, तदेकात्म रूप और आवेश रूप। स्वयं रूप तो भीकृष्ण हैं। तदेकात्म रूप में उन अवतारों की गणना होती है जो तत्त्वतः भगवद्रूप होकर भी रूप और आकार में भिन्न होते हैं। मत्स्य, वराह, कूर्म आदि लीलावतार इसके उदाहरण हैं। ज्ञान शक्ति आदि विभाग द्वारा भगवान् जिन महत्तम जीवों में आविष्ट होकर रहते हैं उन्हें अवशेष रूप कहा जाता है। नारद शेष सनक सनन्दन आदि ऐसे ही रूप हैं। परवर्ती काल में दुष्ट-दमन आदि को भगवान् के अवतार का मुख्य हेतु नहीं माना गया है। लघुभागवतामृत में बताया गया है कि भक्तों पर अनुग्रह करने की इच्छा से श्रीला का विस्तार करना ही भगवान् के प्रकट होने का उत्तम हेतु है :

स्वलीलाकीर्तिविरत्तागद् भक्तेष्वनुजिघृक्ष्वा ।

अस्य जन्मादिलीलानां प्राकट्ये हेतुस्तमः ॥

भागवत पुाण में समस्त प्राचीन परम्पराओं के सामंजस्य विधान का प्रयत्न है। महाभारत के नारायणीय पुाण में एकान्तिकी के मार्ग की जो चर्चा है उसका अत्यन्त परिशुद्ध और परिष्कृत रूप इस पुाण में पाया जाता है। इसमें दो कोई संदेह ही नहीं कि यह एकान्त-भक्ति का मार्ग बहुत पुराना है

( शान्तिर्वर्ग १५ वें अध्याय ) में पाँच प्राचीन मतों का उल्लेख है—  
 सांख्य, योग, पाञ्चरात्र, वेद ( वेदान्त ? ) और वाशुपत । इनमें पाञ्चरात्र  
 और वाशुपत मत सगुणोपासना-रूपायक मत हैं । इनमें भक्ति तत्त्व की  
 प्रधानता है । पाँचरात्र मत के मूल आधार नारायण हैं और इस मत का  
 साधन मार्ग ऐकान्तिक भक्ति है । दो बातें इस पाञ्चरात्र मत की विशेषता बताई  
 जाती हैं । एक तो चतुर्व्यूह की वह कल्पना जिसके अनुसार निगुणात्मक  
 चेश्वर भगवान् ही वासुदेव हैं, वे जब जीव रूप में अवतार लेते हैं तो उन्हें  
 संकर्षण कहा जाता है, और संकर्षण से जो मन रूप में अवतार होता है वह  
 प्रद्युम्न कहा जाता है और इस प्रद्युम्न से जो उत्पन्न होता है वही अर्हकार है,  
 ईश्वर है, उसे ही अनिरुद्ध कहा जाता है । श्रीमद्भगवद्गीता भागवतों का  
 सर्वमान्य ग्रंथ है । उसमें 'वासुदेव' शब्द का प्रयोग तो परम दैवत परब्रह्म के  
 रूप में हुआ है पर चतुर्व्यूह की कल्पना का कोई आभास उसको नहीं है ।  
 भागवत पुराण के अवतारों में इस मत का सामंजस्य किया गया है । उसके  
 अनुसार भगवान् के तीन प्रकार के अवतार होते हैं, पुरुषावतार, गुणावतार  
 और लीलावतार । पुरुषावतार तीन प्रकार के हैं—(१) महत्तत्त्व के सृष्टिकर्ता  
 को प्रथम पुरुष ( संकर्षण ), निखिल ब्रह्माण्ड के अन्तर्गामी द्वितीय पुरुष  
 ( प्रद्युम्न ) और व्यष्टि जगत् के अन्तर्गामी ( अर्हकार, अनिरुद्ध ) तृतीय पुरुष हैं । इस  
 प्रकार वासुदेव, —संकर्षण—प्रद्युम्न और—अनिरुद्ध इन चारों में प्रथमतो स्वयं  
 रूप अवतारी स्वयं ओष्ठव्य हैं और बाकी तीन उनके पुरुषावतार । इसी  
 प्रकार गुणावतार भी तीन बताए गए हैं, सत्त्वगुण युक्त अवतार ब्रह्मा,  
 रजोगुण से युक्त विष्णु और तमोगुण से युक्त अवतार रुद्र या शिव हैं ।  
 लीलावतार चौबीस हैं—चतुःसन, नारद, वराह, मरुत्य, यज्ञ, नर-नारायण,  
 कपिल, दत्तात्रेय, हयशीर्ष, हंस, ध्रुवप्रिय, अश्वत्थ, पृथु, वृत्सिह, कूर्म,  
 चम्बलरि, मोहिनी, वामन, परशुराम, रामचंद्र, व्यास, बलराम, बुद्ध और  
 कल्कि । इनमें अकृष्ण की गणना नहीं हुई है क्योंकि भागवत उन्हें स्वयं रूप  
 मानता है, वे अवतारी हैं ।

गीता में प्रदिसादित भागवतधर्म में भी भक्ति का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है,

पर पाञ्चरात्र में उसका स्थान और भी महत्वपूर्ण है गीता में एक स्थान पर भगवान् ने बताया है कि चार प्रकार के भक्त मुझे भजते हैं आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी। इनमें ज्ञानी को श्रेष्ठ बताया गया है। महाभारत के शान्तिपर्व के १४८ वें अध्याय में साख्यतन्त्र (पाञ्चरात्र मत) को निष्काम भक्ति का मार्ग बताया गया है और गीता के श्लोक के समान ही एक श्लोक है जिसमें भगवान् ने कहा है कि भक्त तो मेरे चार प्रकार के हैं पर उनमें एकान्ती और अनन्यदैवत ही श्रेष्ठ होते हैं (तेषां चैकान्तिनः श्रेष्ठा ये चैवानन्यदैवताः)। यहाँ एकान्तिक का अर्थ है निष्काम भक्ति का मार्ग। इस प्रकार पाञ्चरात्र मत में चतुर्व्यूह कल्याण और एकान्तिक भक्तिमार्ग को प्रधानता दी गई है शंकराचार्य ने (ब्रह्मसूत्र २, २, ४२) बासुदेव के चतुर्व्यूह की उपासना की पांच विधियाँ बताई हैं—(१) अभिगमन अर्थात् मन कर्म और वचन से अवधान पूर्वक देवमन्दिर में गमन, (२) उपादान अर्थात् पूजा द्रव्यों का अर्जन; (३) इष्ट्या अर्थात् पूजा; (४) स्वाध्याय अर्थात् अष्टाक्षर आदि मंत्रों का जप और (५) योग अर्थात् ध्यान। इन विधियों का विरोध शंकराचार्य ने नहीं किया है वे भगवान् के चतुर्धा विभक्त होकर अवस्थान को भी श्रुति-विरुद्ध नहीं मानते। परन्तु वे बासुदेव से जीव की उत्पत्ति की कल्पना को असंगत मानते हैं, किन्तु श्रीमद्भागवत में कई बार भगवान् के चतुर्व्यूहार्थक रूप का स्मरण किया गया है। चौथे स्कंध के चौबीसवें अध्याय में उद्ध ने भगवान् की स्तुति इस प्रकार की है।

नमः पङ्कजनाभाय भूतसूक्ष्मेन्द्रियात्मने ।

बासुदेवाय शान्ताय कूटस्थाय स्वरोचिसे ।

सङ्कर्षणाय सूक्ष्माय दुरन्ताशान्तकाय च ।

नमो विश्वप्रबोधाय प्रद्युम्नायान्तरात्मने ।

नमो नमोऽनिच्छदाय हृषीकेशेन्द्रियात्मने ।

नमः परमहंसाय पूर्णाय निम्बुनात्मने ॥

परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि भागवत पुराण का सबसे प्रिय मत है ऐकान्तिक भक्ति का मार्ग। यही भागवत का प्रधान प्रतिपाद्य है। ग्यारहवें

स्कंध के बीसवें अध्याय में भगवान् ने उद्भव को बताया है कि मेरे एकान्ती भक्त केवल भक्ति को ही चाहते हैं। केवल्य या अपुनर्भव भी वे नहीं चाहते—यहाँ तक कि यदि मैं भी उन्हें इन वस्तुओं को दूँ तो भी इसकी वाञ्छा नहीं करेंगे—

न किञ्चित् साधयो धीरा भक्ता एकान्तिनो मम ।

वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम् ।

शङ्कराचार्य ने भागवतो की उपासना की पाँच विधियाँ बताई हैं। इन्हें का परिवर्द्धित रूप नवधा भक्ति है पाँच से नव के विकास की एक सीढ़ी का पता मिल जाता है। ज्ञानासृत सार में, जो संभवतः शंकर के बाद की और भागवत पुराण के पूर्व की रचना है ३ प्रकार की भक्ति बताई गई है—स्मरण, कीर्तन, वन्दन, पादसेवन, अर्चन और आत्मनिवेदन।

भागवत में (७-५-११-२४) में तीन और उद्गार हैं—अवय, दास्य और सख्य। आगे चलकर भक्तों ने नाना प्रकार की विवेचना की है। पर ऐकान्तिक भक्ति की श्रेष्ठता सबने स्वीकार की है। मध्यकाल के भक्ति मार्ग में इसी ऐकान्तिक भक्ति का स्वर प्रबल रहा है। स्पष्ट है कि इस प्रकार की भक्ति के लिये भगवान् के अवतारों की कल्पना आवश्यक है, अवतारों से ही उस लीला का विस्तार होता है जिसका भवण और मनन, भक्ति का प्रधान साधन है। अवतारों की विविध लीलाओं के फलस्वरूप ही उन विविध नामों का उद्भव होता है जिनका कीर्तन और जप भक्त के लिये बहुत आवश्यक साधन है। भक्ति के लिये भगवान् के साथ वैयक्तिक सम्बन्ध आवश्यक है और अवतार उस संबंध के लिये उद्युक्त सामग्री प्रदान करते हैं। यही कारण है कि मध्यकाल के प्रायः सभी धार्मिक सांप्रदायों ने अवतार की कोई-न कोई कल्पना अवश्य की है। शिव के भी अनेक अवतारों की चर्चा मिलती है। नकुलीश या लकुलीश शिव के अवतार माने गए हैं, गोरखनाथ और मत्स्येन्द्र नाथ को भी शिव का अवतार स्वीकार किया गया है। और तो और आगे चलकर अवतारवाद के घोर विरोधी कबीर को भी अवतार ही स्वीकार किया जाने लगा था।



## २३. श्री कृष्ण की प्रधानता

जैसे तो अवतारों की संख्या बहुत मानी गई है—हमने देखा है कि यह ६ से बढ़ती-बढ़ती अड़तीस तक पहुँची है परन्तु मुख्य अवतार राम और कृष्ण ही हैं इसमें भी कृष्णावतार की कल्पना पुरानो भी है और व्यापक भी। इन दो अवतारों की प्रधानता स्थापित होने का प्रधान कारण है इनकी लीला-प्रभुलता। शुरू-शुरू के साहित्य और शिल्प में इनका प्रधान चरित दुष्टों का दमन और भक्तों की उनसे रक्षा ही था पर धीरे-धीरे दुष्ट-दमन वाला रूप दबता गया और लीला का 'लीला' रूप ही प्रधान होता गया। श्रीकृष्णावतार के दो मुख्य रूप हैं। एक में वे यदुकुल के भेद्य रत्न हैं, धीर हैं, राजा हैं, कंसारि हैं; दूसरे में वे गोपाल हैं, गोपीजनवल्लभ हैं, 'राधाधर-सुधापान शालि-वनमाली' हैं। प्रथम रूप का पता बहुत पुराने ग्रंथों से चल जाता है पर दूसरा रूप अपेक्षाकृत नवीन है। धीरे-धीरे यह दूसरा रूप ही प्रधान हो गया है और पहला रूप गौण विद्वानों ने अश्वघोष की निम्नलिखित पंक्ति में गोपालकृष्ण का सबसे पुराना प्रामाणिक उल्लेख बताया है।

सद्यतानि कर्माणि च यानि सौरेः शूरादयस्तेष्वथला मभूवुः । कालिदास ने 'गोपवेषस्य विष्णोः' चर्चा की ही है। महाभारत के महापर्व (६म्वें अध्याय) में द्रौपदी ने परब्रह्मर्षय के समय भगवान् को जिन नामों से पुकारा उनमें 'गोविन्द द्वारकावासिन् कृष्ण गोपीजनप्रिय ।' भी हैं परन्तु कुछ लोग इस अंश को प्रक्षिप्त मानते हैं। परन्तु हरिवंश में तो कृष्णगोपाल की चर्चा में लगभग २० अध्याय लिखे गए हैं। परन्तु श्रीकृष्ण के दुष्टदमन रूप का प्राधान्य उसमें बना हुआ है उनके जीवन की मुख्य घटनाएँ हरिवंश में निम्नलिखित हैं—शकट-वध, पूतना वध, दामघ्नव, यमलार्जुन भंग, वृकदर्शन, वृन्दावन प्रवेश, धेनुकवध, प्रलम्बवध, गोवर्धन धारण, शालीसक, श्रीहा, वृषभासुरवध, केशवध, आदि।

विष्णुपुराण में भी लगभग यही बातें हैं । भागवत में अनेक अन्य प्रसंगों को जोड़ा गया है हरिवंश की हालीसक-क्रीड़ा ही भागवत की रासलीला का पूर्व रूप है परन्तु भागवत की रासलीला श्रीकृष्ण जीवन की बहुत ही महत्वपूर्ण घटना है । भागवत की रासपंचाध्यायी भागवत का नवनीत मानो गई है और आगे चलकर गोपीजन के साथ अष्ट प्रहर क्रीड़ा ही कृष्णलीला का मुख्य अंग बन गई है । हरिवंश को प्रेमक्रीड़ा बहुत स्थूल शृंगार की है, उसका कथित्वपूर्ण अंश केवल प्रावृट् या पावस का वर्णन है परन्तु भागवत के प्रेमाख्यान में कथित्व और भक्ति का पुट अत्यधिक है । इस प्रेम व्यापार का विरह बाला अंश हरिवंश में उतना विकसित नहीं है, जितना विष्णुपुराण में; पर आगे चलकर इस विरह बाले अंग को बहुत प्रधानता प्राप्त हो गई है । मध्यकाल के अनेक काव्य राधा और गोपियों के विरह को मुख्य प्रतिपाद्य बना कर लिखे गए हैं । रागरागिनियों में इस विरह का विस्तार है और राजपूत और कांगड़ा के क्षत्र-सम्प्रदाय में विरह का बहुत ही महत्वपूर्ण हाथ है । इस प्रकार प्रेम के दोनों ही अंग-संयोग और वियोग—आगे चलकर बहुत महत्वपूर्ण हो गए हैं ।

रामावतार का महत्व भी बहुत अधिक रहा है । पुराने से पुराने प्रसंगों में भी श्री रामचन्द्र का उल्लेख मिलता है । कालिदास ने रघुवंश में विस्तारपूर्वक चर्चा की है कि किस प्रकार विष्णु को भूभारहरण के लिये देवताओं ने प्रसन्न किया । मध्यकाल के साहित्य में श्री रामचन्द्र के चरित को लेकर अनेक काव्य नाटक आदि लिखे गए । सब जगह उन्हें अवतार ही नहीं समझा गया । मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में ही उनका चित्रण है किन्तु इस विषय में कुछ भी सन्देह नहीं कि सर्वत्र यह चरित्र श्रद्धा और भक्ति का विषय रहा है । सम्पूर्ण भारतीय साहित्य का विवेचन करके देखा जाय तो उसका एक अत्यन्त महत्वपूर्ण भाग रामायण द्वारा प्रभावित है ।

नवीं-दसवीं शताब्दी के बाद से साहित्य में 'दशावतार चरित' नाम देकर अनेक काव्य लिखे गए । क्षेमेंद्र नामक मौजी बहुश्रुत कवि ने एक बहुत ही सुन्दर काव्य इसी नाम से लिखा है । गीत गोविन्द में भक्तकवि जयदेव ने

दशावतार की वन्दना की है। पृथ्वीराज रागों में एक 'दसम' है जो वस्तुतः दशावतार चरित है। इन पुस्तकों में दस अवतारों की स्तुति और चरित लिखे जाते हैं परन्तु प्रधानता राम और कृष्ण अवतारों को ही होती है। मनुष्य रूप में होने के कारण और मनुष्य के प्रभावित करने योग्य लीलाओं का आभय होने के कारण इन दो अवतारों को प्रधानता मिल गई है। मुलसीदास जी के बाद से उत्तर भारत में रामअवतार को बहुत प्रमुखता प्राप्त हो गई परन्तु इस क्षेत्र में भी श्री कृष्ण अवतार की महिमा घटी नहीं।

श्री कृष्णावतार की लीलाओं में अद्भुत मानवीय रस है। इसी मानवीय रस को भक्त कवियों ने अत्यन्त उच्च धरातल पर रख दिया है। मनुष्य के जितने भी मनोरोग हैं वे सभी भगवान् की ओर प्रवृत्त होकर महान् मन आते हैं, इसी मनोवृत्ति से चालित होकर भक्त कवियों ने मनुष्य के सभी रागों को भगवद्गुण करने का प्रयत्न किया है। लोक में मनुष्य झी-पुत्र के लिये, धन वीरल के लिये और यश कीर्ति के लिये जो कुछ करता है वह जगद विविक्षित व्यक्ति की ओर उन्मुख होने के कारण सब विविक्षित हो जाते हैं पर वे पूर्णतम की ओर प्रवृत्त होने पर समस्त जगत् के मंगल-विषादक बन जाते हैं। इसीलिये भक्त कवियों ने सभी मनोरोगों को भगवत्परायण करने पर जोर दिया है। भागवत ने इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहा है—

यद् युज्यतेऽनुवसु कर्ममनोवचोभिर्देहेन्द्रियादिषु

नृभिस्तदसत् पूषकत्वात् ।

तैरेव सद्भवति चेत् कियतेऽपूपकत्वात् सर्वथ

तद्भवति मूल निषेचनं यत् ।

स्पष्ट ही मानवीय मनोरोगों में सब से प्रबल राग है दास्यत्व और वास्तव्य के। श्रीकृष्णावतार में इन मनोरोगों का उपकरण प्रचुर मात्रा में प्राप्त होते हैं। भक्त कवियों ने मनुष्य के इन मनोरोगों का बहुत ही सुन्दर उपयोग किया है।

## २४. गोपियाँ और श्री राधा

मूर्तिशिल्प में भी आरंभ में इन शृंगार-लीलाओं का उतना प्राधान्य नहीं दिखता। कहा जाता है कि सन् ईस्वी की दूसरी शताब्दी के पहले की कोई भी मूर्ति या उत्कीर्ण भित्तिचित्र का भीकृष्ण चरित से संबंध नहीं मिला है। रायनहादुर भी दयाराम साहानी ने आर्क्योलॉजिकल सर्वे की १९२५-२६ की रिपोर्ट में बताया है कि मथुरा में भीकृष्ण के जन्म का उत्कीर्ण चित्र प्राप्त हुआ है जो संपूर्ण नहीं है। चौथी शताब्दी से भीकृष्ण-लीला की प्रमुख कथाएँ बहुत अधिक लोकप्रिय हो गई थीं, ऐसा जान पड़ता है। मन्सोर मन्दिर के दूटे हुए दो द्वार-स्तंभ प्राप्त हुए हैं जिनमें गोवर्धन धारण, नवनीत चौर्य, शकट भंग, घेतुकवच और कालियदमन की लीलाएँ उत्कीर्ण हैं। विद्वानों का मत है कि इसका निर्माण काल सन् ईस्वी की चौथी या पाँचवीं शताब्दी होगा। संभवतः चौथी शताब्दी की एक और गोवर्धनधारी मूर्ति मथुरा में प्राप्त हुई है। महावलीपुरम् में भी गोवर्धनधारी की उत्कीर्ण मूर्ति मिली है। ऐसा जान पड़ता है कि गोवर्धनधारण भीकृष्ण चरित की सर्वप्रिय लीला उन दिनों रही होगी। सातवीं शताब्दी की बादामी के गुफाओं और भित्तिगात्र पर उत्कीर्ण भीकृष्ण-लीलाओं का भी स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। बंगाल के पहाड़पुर की खुदाई में सबसे पुरानी ऐसी मूर्ति मिली है जिसमें कृष्ण एक गोपी (राधा) के साथ हैं। श्री सुनोतिकुमार चटर्जी ने यह सुझाया था कि यह मूर्ति राधा की हो सकती है। पर प्रेमविलास और भक्तिरत्नाकर में लिखा है कि निरयानन्द प्रभु की छोटी पत्नी जाह्नवी देवी जब वृन्दावन गईं तो उन्हें यह देखकर बड़ा दुःख हुआ कि भीकृष्ण के साथ राधा की मूर्ति की कहीं पूजा नहीं होती और घर लौटकर उन्होंने नवान भास्कर नामक कलाकार से राधा की मूर्तियाँ बनवाये और उन्हें वृन्दावन भिजवाया। जीव गोस्वामी की आज्ञा से ये मूर्तियाँ भीकृष्ण के पार्श्व में रखी गईं और तब से भीकृष्ण के साथ राधिका की भी

पूजा होने लगी तब से बंगाल में पुरानी विष्णुमूर्तियों और बालक कृष्ण की मूर्तियों को छोड़कर अकेली कृष्णमूर्ति की पूजा नहीं होती। (ब्रजबुलि लिटरेचर पृ० ४१०-४८१ में प्रो० सुकुमार सेन का लेख)।

इस प्रकार शिल्प और साहित्य दोनों की गवाही से यही पता चलता है कि आरंभ में भोक्कृष्ण की बीर-चर्चा ही प्रधान थी। कंस-वध और गोवर्धन-धारण उन दिनों काव्य नाटक और शिल्प के प्रधान प्रतिपाद्य थे। पुराणों में गोपियों के प्रेम की चर्चा आती है पर वह उत्तरोत्तर बढ़ते रूप में 'दिखती' है। विष्णुपुराण में गोपियों के प्रेम की चर्चा है पर भागवत पुराण में वह बहुत विस्तृत रूप में है। रास पंचाध्यायी भागवत का सार कहा जाता है। इस पुराण में राधा का नाम नहीं आता। गाथा सप्तशती में, पंचतंत्र में और ध्वन्यालोक में 'राधा' का नाम आया है पर कृष्ण को सत्राधिका प्रिया गोपी के रूप में उनका नाम भागवतोत्तर साहित्य में तो अधिक है। भागवत में अन्य लीलाओं का भी कम विस्तार नहीं है। पूर्ववर्ती पुराणों से भी कुछ अधिक महिमाशायक कथाएँ इसमें पाई जाती हैं पर गोपी प्रेम इस पुराण में बहुत ही उदात्तरूप में चित्रित है। राधा का नाम तो नहीं है पर 'एक गोपी' की चर्चा इस पुराण में ऐसी है जिसके अनुगार रास में किसी विशिष्ट गोपी के प्रति भगवान् का अधिक अनुराग व्यक्त हुआ था। गीत गोविन्द में राधा प्रमुख गोपी है और उससे पता चलता है कि रास में जिस गोपी के प्रति भगवान् ने अधिक अनुराग दिखाया था वह राधा ही थी—राधामाधाय हृदये तस्याञ्ज ब्रजसुन्दरीः—राधा को हृदय में धारण करके भगवान् ने अन्य ब्रजसुन्दरियों को छोड़ दिया था। अवश्य ही गीतगोविन्द का रास वसन्तरास है, विद्यापति ने भी ऐसे रास का वर्णन किया है। किन्तु भागवत का रास शब्द रास है। ब्रजवैवर्त पुराण में राधा प्रमुख गोपी हैं। रा० ब० योगेशचंद्र राय का अनुमान है कि ब्रजवैवर्त पुराण १६ वीं शताब्दी में पश्चिम बंगाल में कहीं लिखा गया था। और उसके लेखक को गीतगोविन्द से परिचय था। जो हो, भोक्कृष्णचंद्र और गोपियों के प्रेम की प्रधानता भागवत ने स्थापित कर दिया था। कितने ऊँचे स्तर पर भागवत ने इस प्रेमाधार को रखा है उसका पता

उद्धव के इस कथन से लग जाता है जिसमें उन्होंने वनवासिनी और अशिक्षिता ब्रजवालाओं के अनन्य प्रेम को देखकर कहा था—“अहो ! यदि मैं भी वृन्दावन में गोपियों की चरण रज की सेवन करने वाली लता औषधि और काढ़ियों में से कुछ हो जाऊँ तो भी धन्य हो जाऊँ । धन्य हैं वे गोपियाँ जिन्होंने अपने स्वजनों को और आर्यधर्म को भी त्यागकर भुक्तियों द्वारा अनुसंधेय भगवत् प्राप्ति के मार्ग का अनुसरण किया है :

आसाभदो चरण रेणु शुषामहं स्यां वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् ।

या दुस्त्यजं स्वगतमार्गस्य हि हित्वा भेषुर्मुकुन्द पदवीं भुक्तिर्भिमृश्याम् ॥

वायुपुराण में यह बताया अवश्य है कि ब्रज में श्रीकृष्ण का पालन हुआ था पर कथा को अधिक विस्तार नहीं दिया गया; अग्निपुराण से भी अनुमान किया जा सकता है कि गोपियों ने श्रीकृष्ण के प्रति अनुराग प्रकट किया था ( १२-२२-२३ ) पर कथा को विस्तार देने में और गोपीप्रेम-लीला को इतना उदात्त रूप देने में भावगत पुराण अद्वितीय हैं । पञ्चपुराण में वृन्दावन की नित्यलीला की चर्चा है, राधा का नाम आता है, पर यह पुराण बहुत पुराना नहीं कहा जा सकता और जिस अंश में राधा कृष्ण के निम्न विहार की चर्चा है वह तो निस्सन्देह परवर्ती है । भागवत में कुछ गोपालों के नाम— जैसे श्रीधामा, सुदामा, भद्रसेन, अंशु अर्जुन विशाल तेजस्वी ब्राह्मण आदि— तो आए हैं पर पञ्चपुराण में गोप-गोपियों के नामों की जो सूची दी हुई है वह विस्तीर्ण है । ब्रह्मवैवर्त में यह सूची और बढ़ गई है । इन नामों का प्रचार बंगाल में अधिक है ।

प्रो० सुकुमार सेन ने अपनी पुस्तक ‘ब्रजगुलि लिटरेचर’ में इसकी विस्तृत चर्चा की है । इस अंश के लिखने में उस पुस्तक से बहुत सहायता ली गई है । उत्तर भारत में राधिका के अतिरिक्त लालता, विशाखा और चन्द्रावली का नाम मिल जाता है पर गौड़ीय वैष्णवों में अनेक गोपियों और गोपों के नाम का उल्लेख है इससे इतना तो स्पष्ट ही है कि पञ्चपुराण और ब्रह्मवैवर्त पुराण दोनों का ही मूल रचना स्थान बंगाल है । बंगाली वैष्णव आचार्यों ने बड़े विस्तारपूर्वक इन

गोपियों के नाम, रूप, स्वभाव, वस्त्र आदि का वर्णन किया है इन भक्त आचार्यों ने चद्रावती को राधिका की प्रतिद्वन्द्विनी के रूप में चित्रित किया है। इस प्रतिद्वन्द्विता का आभास भी पद्मपुराण में मिल जाता है परन्तु आगे चलकर बंगाल के वैष्णवों ने इस प्रतिद्वन्द्विता को जितना विस्तार दिया है उतना उत्तर भारत के वैष्णवों ने नहीं दिया। मध्यकाल में दानलीला, नागलीला, विलासिनलीला, दधिवैचन की लीला आदि का बहुत महत्व रहा है बंगाल में नौकालीला ने भी प्रमुख स्थान अधिकार किया है जो उचित ही है रूप स्वामी ने भक्तिरसासुतसिन्धु में स्पष्ट ही कहा है कि वे जिन गोपियों का नाम बता रहे हैं उनमें कुछ बंगाल में लोक प्रचलित हैं।

१. पद्मपुराण की गोपियों—राधा, सखिता, रघामाया, धन्वा, हरि-प्रिया, विशाखा, शैव्या, पद्मा, भद्रा, चंद्रावती, चन्द्रावली, चित्ररेखा, चन्द्रा-मदनसुन्दरी, प्रिया, मधुमती, चन्द्ररेखा।

महावैद्य की गोपियों—सुखीला, शशिरोता, चन्द्रमुखी, माधवी, कदम्बमाया, कुन्ती, यमुना, सर्वसंगमा, पद्ममुखी, सावित्री, पारिजाता, जाङ्गली, सुधामुखी, शुभा, पद्मा, गौरी, स्वयंप्रभा, काशिका, कमला, दुर्गा, सरस्वती, भारती, अपर्णा, रति गंगा, अम्बिका, कृष्णप्रिया, चंदा, चंदननन्दिनी, शशि-कला, संगमा, सती, नन्दिनी, सुन्दरी, कृष्ण प्राण, मधुमती, चन्दना।

## २५. साहित्य के माध्यम से धार्मिक संबंध

मध्यकाल की भक्ति-साधना साहित्य के माध्यम से प्रकट हुई है। उसपरक साहित्य का इस प्रकार भक्ति साहित्य के साथ एकीभाव दुनिया भर के साहित्य में विरल है। देश के विभिन्न भागों में इस भक्ति-साहित्य में मध्यकाल अद्भुत एकता स्थापित की थी। साहित्य के माध्यम से स्थापित संबंध बहुत दृढ़ होता है। इस समय ऐसा संबंध और भी आवश्यक हो गया है क्योंकि परिस्थितियाँ कुछ ऐसी विषम हो आई हैं कि यह आशंका होने लगी है कि विभिन्न प्रान्तों में शताब्दियों से बना हुआ संबंध टूट तो नहीं जाएगा। वस्तुतः यह संबंध इतना दृढ़ और गम्भीर है कि उसका टूटना असंभव है। प्रेम का ध्वन दीला भर पड़ सकता है, परन्तु वह दीला भी क्यों पड़े ? साहित्य के माध्यम से जो संबंध स्थापित होता है उसमें थोड़ी देर जरूर लगती है पर वह टिकाऊ और दायर्य होता है। भारतवर्ष का दीर्घकालीन इतिहास इस बात का साक्ष्य है कि प्रान्तों के राजनीतिक संबंध बनते और बिगड़ते रहे हैं परन्तु सबको एक ही विचारधारा ने इकट्ठा के साथ बाँध रखा है। अगर बहुत पुराने जमाने की बात छोड़ दें और उत्तरकालिक मध्यकाल की ही बात लें जिसमें भिन्न-भिन्न प्रान्त की भाषाओं का स्वतंत्र विकास होता रहा है तो हमें साहित्यिक संबंध का आश्चर्यजनक संवाद प्राप्त होगा। मलिक मुहम्मद जायसी का पदमावत उनकी मृत्यु के सौ वर्ष के भीतर ही एक बंगाली कवि द्वारा बंगला में अनुवादित हो गया था। तुलसीदास पर भाषा में काव्य लिखने के लिये जब काशी के पंडितों का आक्रमण हो रहा था तो सुप्रसिद्ध वैदान्तिक आचार्य मधुसूदन ने ही उनका पक्ष ग्रहण करके वह प्रसिद्ध श्लोक लिखा था जो तुलसीदास के व्यक्तित्व की उत्तम व्याख्या है—ये मधुसूदन सरस्वती बंगाली पंडित

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।  
 कवितामंजरी यस्य रामभरणमुचिता ॥



बताए जाते हैं। मैंने स्वयं बंगाल के कवियों में तुलसीदास और सूरदास के पद गाए जाते सुना है। नाभादासजी के भक्तमाल का बंगला में जो अनुवाद हुआ वह केवल अनुवाद ही नहीं है, उसका परिवर्धन भी है। इसी भक्तमाल में ( बंगला संस्करण ) सूरदास, तुलसीदास, कबीरदास आदि भक्तों की कथाएँ दी हुई हैं जिनको आश्रय करके इस काल के सर्वश्रेष्ठ कवि रवीन्द्रनाथ ने इन हिंदी कवियों पर प्रथम श्रेणी की कविताएँ लिखी हैं। बंगला भक्तमाल के आधार पर कविवर रवीन्द्रनाथ ने “सूरदासेर प्रार्थना” नामक एक अत्यन्त सुन्दर कविता लिखी है। इसमें एक युग के महाकवि ने दूसरे युग के महाकवि को कब्रना की आँखों से जिस रूप में देखा है वह रूप कमाल की मोहकता लिये हुए है। साहित्य के माध्यम से आज भी हम प्रान्तों में संबंध स्थापित करें। वह हमारी दीर्घकालीन परम्परा के अनुकूल है। इस प्रकार के प्रयत्न से जो शुभ परिणाम प्राप्त होता है वह प्रयोग की अवस्था में नहीं है बल्कि पूर्ण रूप से परीक्षित है।

आज से सौ डेढ़ सौ वर्ष पहले तक भिन्न-भिन्न प्रान्त इतने अधिक अन्तः संबन्धों के बिना एक का साहित्य, धर्म और तत्त्ववाद दूसरे के उन्हीं विषयों की जानकारी प्राप्त किए बिना समझने ही नहीं जा सकते। सूरदास को अच्छी तरह समझने के लिये यदि हम सम्पूर्णतः सूरदास के साहित्य तक—या कुछ और अधिक बढ़कर ब्रजभाषा के साहित्य तक ही—सीमा बंधकर बैठे रहें तो उस महान् रस-समुद्र का केवल एक ही पहलू देख सकेंगे जिसे उत्तरमध्यकाल के भक्तकवियों ने अमर बाष्पी रूप निर्भरिणियों से भर दिया है। सूरदास को समझने के लिये विद्यापति, चंडीदास और नरसी मेहता परम आवश्यक हैं। यदि हम सचमुच सूरदास को समझना चाहते हैं तो चंडीदास और विद्यापति या अन्य वैष्णव कवियों को समझें क्योंकि उन्हें समझने बिना हम बहुत आँटे में रहेंगे। वस्तुतः इस कोने से उस कोने तक फैले हुए विविध प्रकार के सामाजिक रीति-रिवाज, पूजा-उपासना, भक्त-उपासना, शास्त्रीय मान्यता आदि बातें जिन प्रकार जनसमूह के अध्ययन के लिये नितान्त आवश्यक उपादान हैं उसी प्रकार और उन सबसे अधिक आवश्यक वस्तु हैं तत्कालीन साहित्य। इस साहित्य के माध्यम से यदि हम अध्ययन शुरू करें तो ऐसा लगेगा कि समूचा भारतवर्ष

नाना भक्ति की साधनाओं, विश्वासों और अन्तःसबद्ध विचारों के सूत्र से कमकर सी-सा दिया गया है। इस सूत्र का एक टोका यदि बंगाल में है तो दूसरा पंजाब में, तीसरा मारवाड़ में और आश्चर्य नहीं कि चौथा भालावर में निकल आए। भारतवर्ष का मध्यकालीन साहित्य यस्तुतः समूचे भारतवर्ष का एक ही साहित्य है, प्रान्तवार बँटा हुआ विभिन्न बोलियों का नहीं।

मध्यकाल के भक्त कवियों को समझने के लिये हमें थोड़ा वर्तमानकाल से निकलना पड़ेगा। उदाहरणार्थ, सूरदास शताब्दियों से हिंदी भाषी जनता के हृदयहार बने हुए हैं इसलिये नये सिरे से यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं कि वे हिंदी से भेड़ कवि हैं। किन्तु कुछ बातें नये सिरे से कहने की हैं। हम जिस बालावरण में शिथिल हुए हैं उसकी एक बड़ी विशेषता है कि उसने हमारी समस्त प्राचीन आनुभूतिक धारणाओं से हमें लगभग विच्छिन्न कर दिया है। यदि हम सम्पूर्ण रूप से विच्छिन्न भी हो गये होते तो भी हम आधुनिक ढंग से सोचने की अनादित दृष्टि पा सकते परन्तु हम पूर्ण रूप से आनुभूतियों से विच्छिन्न भी नहीं हुए हैं और उन्हें जानते भी नहीं हैं। नतीजा यह हुआ है कि भिक्षु का नाम लेते ही हम पूर्णानन्दधन-विप्रद परम पुरुष की सोचे बिना नहीं रहते और फिर भी गोपियों के साथ उनकी रासलीला की बात समझ नहीं सकते। अर्थात् भिक्षु को तो हम परम दैवत का रूप मान लेते हैं पर आगे चलकर हम उसी कथा की तदनु रूप नहीं समझ पाते। इस अचकचरी दृष्टि का परिणाम यह हुआ है कि हम वैष्णव कवि की कविता को न तो उसके सत्त्ववाद-निरपेक्ष रूप में देख पाते हैं और न तत्त्ववाद सापेक्ष रूप में। हम भट्ट कह उठते हैं कि भगवान् के नाम पर यह क्या ऊलझलूल बातें हैं! यदि सूरदास के भिक्षु और राधा कालिदास के दुष्यन्त और शकुन्तला की भक्ति प्राकृत प्रेमी और प्रेमिका होती तो बात हमारे लिये सहज हो जाती पर न तो वे प्राकृत ही हैं और न हमें उनके अप्राकृतिक स्वरूप की वास्तविक धारणा ही है। इसलिये हम न तो वैष्णव कवियों की कविताओं को विशुद्ध काव्य की कसौटी पर ही कस सकते हैं और न विशुद्ध भक्ति की दृष्टि से ही अपना

सकते हैं। हम सूरदास को भक्त शिरोमणि कहते हैं और दूसरे ही क्षण अफ-सोस के साथ कह उठते हैं कि उनके काव्य में वह प्रबंधगत वैशिष्ट्य नहीं है जो जीवन के प्रत्येक पहलू का आदर्श उपस्थित कर सके ! फिर आनन्द-गद्गद् होकर कह उठते हैं, भीरुणा का बालरूप वर्णन करने में सूरदास ने कमाल की स्वाभाविकता ला दी है, यह सब हमारी दृष्टि की अनाविजता नहीं सूचित करते। हम मध्यकाल के भक्त कवि को गलत किनारे से देखना शुरू करते हैं और आधा-सूया जो कुछ हाथ लगता है उसीसे या तो झुंझला उठते हैं या गद्गद् हो जाते हैं। मुझे इस बात की शिकायत नहीं है कि लोग खिन्न होते हैं या गद्गद् होते हैं बल्कि इस बात की शिकायत है कि गलत समझ कर वैसा होते हैं। पूछा जा सकता है कि सही दृष्टिकोण क्या है और सही सही है इसका क्या प्रमाण है। दोनों ही प्रश्नों का उत्तर मैं देने जा रहा हूँ पर ये उत्तर मेरी सीमित बुद्धि के हैं और मेरा यह दावा नहीं है कि यह ही एक मात्र उत्तर है। लेकिन आगे की बातों से इतना मालूम हो ही जायगा कि मैं ठीक रास्ते ही सोच रहा हूँ।

इन भक्त कवियों ने अपने विषय में बहुत कम लिखा है। अनुभूति उनके नाम के साथ बहुत प्रकार की विद्वियों और करामातों को जोड़ती है। विद्वियों का युग अभी भी चल रहा था। भक्ति काल में उसमें केवल इतना अन्तर अन्तर आ गया था कि भक्त के लिये भगवान् सब प्रकार की करामातों की योजना करते रहते हैं। इन करामाती कहानियों से भक्त के विषय में बहुत अच्छी जानकारी नहीं होती। परन्तु फिर भी कभी कहानियाँ विचित्र रूप से तत्काल प्रचलित विचारों और व्यवहारों का अच्छा परिचय देती हैं।

सूरदास की ही बात ली जाय उन्होंने अपने विषय में विशेष कुछ नहीं लिखा। अनुभूति के अनुसार वे सारस्वत ब्राह्मण-वंश में उत्पन्न हुए थे। अपने हृद-गिर्द जिस समाज को उन्होंने देखा था उसका कोई ढ़च आदर्श नहीं था। लोग खाते-पीते थे, रोमी या निरोग होते थे और चार दिन तक हँस या रोकर चल बसते थे। युवावस्था विलास का काल माना जाता था। सारा समाज यौवनमद, जन-मद, घन-मद और मादक-मद का शिकार था। क्या पुरुष क्या स्त्री

सबका लक्ष्य भोग लिप्सा हो था<sup>१</sup>, जो लोग धार्मिक प्रकृति के होते थे वे पुराण सुन लेते थे, तुलसीदल का भोग लगा देते थे और शालिग्राम शिला की पूजा भी कर लेते थे<sup>२</sup>, जो लोग मंगल-कामी थे वे एकादशी द्वादशी का संयमव्रत पाल लेते थे और नाना ग्रहों की शांति स्वस्त्ययन करके अमंगल शमन कर लेते थे<sup>३</sup>। सूरदास ने इसी प्रकार का समाज देखा था। लोगों में झूठी शान, योथी मानप्रियता और उद्देश्यहीन चर्माचार का बोलबाला था। भावुक सूरदास इस अवस्था से विरक्ति अनुभव कर रहे थे और न जाने किस शुभ मुहूर्त में सबकुछ छोड़कर विरक्त हो गए। उस समय उनकी अवस्था तबूत रही होगी और यदि अनुश्रुतियों को प्रायोगिक माना जाय तो यह भी जान पड़ता है कि उनके अंग-अंग से लावण्य की प्रभा छिटक रही थी। वह कहानी अति प्रसिद्ध है जितमें कहा गया है कि प्रकार किसी तबूती के रूप से आकृष्ट होकर उन्होंने उसका अनुसरण किया और बाद में अपनी आंखें फोड़ या फुड़वा लीं। सूर होने के बाद वे दीर्घकाल तक भागवान को कातर भाव से पुकारते रहे। उस समय के उनके भजनों में दैन्य और आत्मसमर्पण का यही जोर है<sup>४</sup>।

<sup>१</sup> जीवनमद जन्मद मादकमद धनमद विधमद भारी।

काम-विषस भर नारि फिरत नुह पंचसरहि फिरि मारी ॥

<sup>२</sup> भवण पुराण शिखर तुलसीदल पूजत दुखतहि पालत।

<sup>३</sup> आमावस पूनो संक्रान्ति ग्रहन द्विज कर भव मेखत।

एकादशी द्वादशी संजम कछू बेत छक खेलत।

मंगल बुध शुभ शुक भातु ससि शान्ति करत गृह नीके। इत्यादि

<sup>४</sup> (१) जन्म सिरान्यो ऐसे ऐसे।

कै घर-घर भरमल जदुपति मिम कै सोवत कै बैसे। इत्यादि

(२) हौं अशुची अकृती अपराधी सनमुख होत छजाउँ।

सुम कृपाज करुणानिधि केसव अधम-उधारन नाउँ ॥

(३) सब फोड़ कहत गुलाम श्याम के सुनत सिरास हिये।

सूरदास प्रभु जू के घेरे लूटन साय जिजे ॥

सूरदास के विषय में किंवदन्तियाँ तो बहुत हैं परन्तु प्रामाणिक रूप में इतना ही मालूम है कि वे पहले गऊवाट में रहते थे और बहुत-से चेले बनाए थे। भक्त तो वे पहले ही से थे पर शुरू-शुरू में दास्य भाव की ओर ही मुड़े हुए थे। संभवतः उनकी अवस्था जब काफी परिपक्व हो आई थी उसी समय एक बार महाप्रभु बल्लभाचार्य उधर पधारे। शोकुलानाथजी की 'बीरासी वैष्णवों की यात्री' के अनुसार सूरदासजी जब महाप्रभु से मिलने गए उस समय थे ठाकुरजी को भोग समर्पण करके और स्वयं भी प्रसाद पाके, गादी पर विराजमान हो रहे थे। सूरदास को देखकर उन्होंने कुछ भगवद्भजन करने का आदेश दिया। सूरदासजी ने आज्ञा शिरोधार्य की और सुतकंठ से यह गान छेड़ दिए जिनमें अपनी तामसिकता और पाप परायणता के लिये पश्चात्ताप था, अपने को पापियों का शिरोमणि बताया गया था और भगवान् को इस बात के लिये ललकारा गया था कि यदि तुम सचमुच पतितोद्धारक हो तो मुझे उधारे में अपना जोर आज्ञा देलो<sup>१</sup>। महाप्रभु ने दो ही भजन सुने और फिर हँटकर कहा—'सूर है के ऐसी विधियात काहे को है, कछु भगवत्-लीला ध्यान करि।' सूरदास हैरान। आज तक यह बात तो और किसी ने

(४) सबनि सनेहो छुंकि दियो ।

हा यदुनाथ अरा तन प्रस्यो प्रतिमो उतरि गयो ॥ इत्यादि

<sup>१</sup> प्रभु मैं सब पतितन को टीकौ ।

और पतित सब दिवस चारि कौ हौं तो जनमत ही कौ ॥

बधिक अजामिक राशिका तारी और पूतना ही कौ ।

सोहि छुंकि तुम और उधारे भिटै यूँ कैसे जी कौ ॥

कांड न समरथ सेज करन को खैधि कहत हौं लीकौ ।

भरियत खाज सूर पतिपन के कहत सबन में लीकौ ॥

तथा

हौं हरि सब पतितन को नायक ।

को करि सकै बराबरि मेरी इतै मान को नायक ॥ इत्यादि

नहीं कही। भगवत्क्रीड़ा क्या वस्तु है गुरो, मैं तो उसे नहीं जानता। कहते हैं, इस प्रसंग के बाद ही महाप्रभु ने उन्हें ब्रज लीलावर्णन की विधि सिखाई जो सूरदास के परवर्ती जीवन की एकमात्र ध्रुवता मिल चुकी है।

कहते हैं, इस घटना के बाद से सूरदास ने अपने भजन का रास्ता ही बदल दिया। उन्होंने लीला-विषयक पदों की रचना की। यहाँ आकर भक्ति ने साहित्य को इस दृढ़ता के साथ पकड़ा कि पूर्ववर्ती काल में इस कोटिकी रचना का कोई उदाहरण खोज लेना कठिन हो गया है। भगवान् की बाल, केशोर और यौवन लीलाओं का उन्होंने जम कर वर्णन किया। साहित्य-साधना के माध्यम से भक्ति की साधना प्रकट हुई। इस साहित्य में विनय नहीं है, भक्त की कातर पुकार नहीं है, सूर की विधियादत नहीं है। आदि से अन्त तक भगवान् की रसमयी लीलाओं का विस्तार है। यह सारा प्रयत्न लीला-गान का प्रयत्न है, उसका हेतु भी लीला ही है, उद्देश्य भी लीला ही है, प्रयोजन भी लीला ही है।

मध्यकाल में ऐसे अनेक भक्त कवि हैं जिनके साथ कुछ इसी ढंग की कहानियाँ जुड़ी हुई हैं। इन कहानियों से इन साधकों का विशेष दृष्टिकोण स्पष्ट हुआ है। परन्तु सभी साधकों का एक हो लक्ष्य रहा है— लीला-गान।

## २६. लीला और भक्ति

लीला क्या है ? लीला भारतीय भक्तों की सबसे ऊँची कल्पना है। हम जानते हैं कि भगवान् अगम हैं, अगोचर हैं, अकल है, अनीह हैं; हम यह भी जानते हैं कि वे अनुभयैकगम्य हैं, साधक उन्हें अपने स्वरूप से ही समझ सकता है। ये गूँगे के गुह हैं, अनिर्वचनीय हैं पर ये सच ज्ञान की बातें हैं। भगवान् ज्ञान के अगम्य हैं क्योंकि ज्ञान बुद्धि का विषय है और बुद्धि हमारी सीमा को बताकर ही रुक जाती है। बुद्धि से बढ़कर जो है वह आत्मा है—मुद्गेरात्मा महान् पर। भगवान् का स्वरूप आत्मा से जाना जाता है, अनुभव किया जाता है। वह सत्-चित्-आनन्द का आकर है। आनन्द से ही उसने सृष्टि रची है। वह स्वयं आनन्दरूप हैं, अमृत रूप है आनन्दरूपममूर्तयदिभाति, वह रस-रूप हैं—रसो मै सः, और फिर भी रहस्य यह है कि वह रस पाकर ही आनन्दी होते हैं। ऐसा क्यों होता है—रसो धार्य लब्ध्वानंदी भवति—तो क्यों ? क्योंकि वह उस अपूर्व लीलाघर की लीला है। लीला ही लीला का कारण है, लीला ही लीला का लक्ष्य, केवल भक्तसाक्षात्कार बड़ी बात नहीं है, है। लीला बड़ी बात है भगवान् का प्रेम। भगवान् के प्रति परम प्रेम-एकान्त प्रेम ही भक्ति उसी प्रेम का प्रपञ्च है। भगवान् से जीव का क्या संबंध है ? — भक्त कहता है भगवान् से जीव का क्या संबंध नहीं है ? माता, पिता, सखा, कान्ता, सब संबंध ही उसके प्रेम को प्रकट करते हैं। तुलसीदास ने हसीलिये कहा है कि 'तोहि मोहि नाते अनेक मानिए जो भावे।' नाना संबंधों की कल्पना करके अपने को उसी संबंध का अभिमान करके एक अचिन्त्य गुणप्रकाश श्यामसुन्दर को भक्त लोग अपने हृदय में साक्षात्कार करते हैं। संबंधों के अभिमान से उनकी भक्तिहृष्टि में प्रेमाञ्जन की रंगीनी प्राप्त होती है

श्रीर आदि पुरुष गोविन्द को अपनी मानसभूमि पर उसी अनुरक्षित रूप में देखते हैं<sup>१</sup> ।

इस प्रसंग में महाप्रभु चैतन्यदेव के जीवनकाल की एक घटना उल्लेख योग्य मालूम हो रही है । महाप्रभु तीर्याटन करते हुए दक्षिण देश में पहुँचे । वहाँ के प्रसिद्ध विद्वान् श्रीर भक्त राय रामानन्द से उनका साक्षात्कार हुआ । दोनों में जो महत्त्वपूर्ण बात हुई वह भगवान् श्रीर भक्त के संबंध को लेकर वैष्णवों की दृष्टि की बहुत अच्छी तरह व्यक्त करती है । महाप्रभु ने राय रामानन्द से पूछा कि हे विद्वन्, तुम भक्ति किसे कहते हो ? राय रामानन्द ने अरा सोचकर उत्तर दिया :—

—सर्वधर्माचरण ही भक्ति है<sup>२</sup> ।

—लेकिन यह भी बाह्य है, श्रीर भीतर की बात कहो ।

—भी कृप्य की समस्त कमों का अर्पण कर देना ही भक्ति है<sup>३</sup> ।

—लेकिन यह भी ऊपरी बात है, श्रीर आगे कहो ।

—सर्वधर्म-परिपाक-पूर्वक भगवान् की शरण में जाना ही भक्ति है<sup>४</sup> ।

—यह भी बाह्य है, श्रीर आगे की कहो ।

—भगवान् के प्रति परम प्रेम ही भक्ति है ।

—ठीक है, पर यह भी स्थूल है, श्रीर आगे की कहो ।

<sup>१</sup> प्रेमाश्रनक्षुरितभक्तिविलोचनेन

समस्तः सर्वत्र हृदयेऽपि विप्रोक्तयस्मि ।

यं श्यामसुन्दरमचिन्त्यगुणप्रकाशं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

<sup>२</sup> स्वयमेव निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः—गी० १।३६

<sup>३</sup> यत्करोषि यद्वनासि यज्जुहोषि ददासि यद् ।

यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुर्वन् यदप्यसू गी० १।२७

<sup>४</sup> सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज ।

अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ —गी० १८।६६



- दास्यप्रेम ही भक्ति है <sup>१</sup>।  
 —ठीक है, पर यह भी स्थूल है, आगे की कहो।  
 —सख्यप्रेम ही भक्ति है <sup>२</sup>।  
 —ठीक है, पर और आगे की बात कहो।  
 —कान्ताभाव का प्रेम ही भक्ति है <sup>३</sup>।  
 —बहुत उत्तम। लेकिन और भी आगे की कहो  
 —राधा-भाव का प्रेम ही परम भक्ति है।  
 —हाँ राधा-भाव ही श्रेष्ठ है, परन्तु प्रमाण क्या है ?

यह लक्ष्य करने की बात है कि महाप्रभु ने केवल अग्निम बात के लिये प्रमाण मांगा था पहले जितनी बातें बताई गई हैं उनका प्रमाण उन्होंने नहीं मांगा। वे अतिपरिचित हैं। प्रथम कहे हुए सभी मत श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीमद्भागवत महापुराण से विद्य हैं परन्तु भागवत में या गीता में राधाभाव की कोई चर्चा नहीं है। राधारानी का नाम भी भागवत पुराण में नहीं पाया जाता। यह भागवत महापुराण वैष्णवों के लिये श्रुति के समान ही मान्य है। उसमें जिस भाव का नाम नहीं आया वही श्रेष्ठ है—यह बात कैसे विश्वास

<sup>१</sup> अहं हरे तव पारैकमूलदासानुवासो भवितास्मि भूयः ।

मनः स्मरेतासुपतेर्गुणानां गृणीतवाक् कर्म करोतु कायः ॥

—भाग० ६।११।२४

<sup>२</sup> विभक्त्येषां कठरपटयोः शृंगलेत्रे च कले

नामे पाणौ मधुशकवज्रं तत्फलान्व्यंगुलीषु ।

तिष्ठन् मध्ये स्वपरिसुहृदो हासयन् नर्मभिः स्वैः

स्वर्गे लोके निवसति बुभुजे यज्ञभुग् बालकेक्षिः ॥ भाग० १०।१३।११

<sup>३</sup> पुण्याः वत मज्जन्तु यद्यं भुङ्क्षिगण्डः पुराणपुरुषो वनचित्रमाख्यः ।

गा' पाठयन् सहस्रतः कवणयन् च वेष्टुं विभीक्ष्ण्यं च सिद्धिप्रमाप्ति-

ताक्तिः ॥ भाग० १०।१४।१३

की जा सकती है ? राय रामानंद ने इसके उत्तर में गीतगोविंद का मत उद्धृत किया जिसमें बताया गया है कि भगवान् श्रीकृष्ण ने राधा को हृदय में धारण करके अन्योन्य ब्रजसुंदरियों को श्याम दिया था <sup>१</sup>। सो यह श्लोक इस बात का प्रमाण है कि कान्ताभाव में भी राधाभाव हो सबसे श्रेष्ठ है। यहाँ प्रसंग आ गया है इसलिये इतना और भी कह रखना आवश्यक है कि नाना कारणों से मेरा अनुमान है कि भागवत महापुराण में श्रीकृष्णलीला की जो परंपरा अभिव्यक्त हुई है उससे भिन्न एक और भी परंपरा थी जिसका प्रकाश जयदेव के गीतगोविंद में हुआ है। भागवत-परंपरा की रासलीला शरत् पूर्णिमा को हुई थी, गीतगोविंद-परंपरा का रास अस्तकाल में, प्रथम में राधा का नाम भी नहीं है, दूसरी में राधिका ही प्रमुख गोपी हैं। सूरदास आदि परवर्ती भक्त-कवियों में ये दोनों परंपराएँ एक दूसरे से गुँथकर एक हो गई हैं। परन्तु यह तो अवांस्तर बात है। जिस बात की हम यहाँ चर्चा कर रहे थे वह यह है कि भगवान् में जितने संबंध की कल्पना हो सकती है उसमें कान्ताभाव का प्रेम ही श्रेष्ठ माना गया है। वैष्णव भक्तों ने इस संबंध को इतने सरस ढंग से व्यक्त किया है कि भारतीय साहित्य अनन्य-साधारण अलौकिक रस का समुद्र बन गया है।

<sup>१</sup> कंसारिरपि संसारवासनाबद्धशृंखलाम् ।

राधामाधाय हृदये तत्त्वाज ब्रजसुंदरीः ।—गीतगोविंद ३।१

## २७. लीला का रहस्य

परंतु यद्यपि अवतार का हेतु एक यह भी है कि धर्म की ग्लानि और अधर्म के अभ्युत्थान को भगवान् स्वयं आविर्भूत होकर दूर करें<sup>१</sup> परन्तु मुख्य कारण तो भक्तों के लिये लीला का विस्तार ही है<sup>२</sup> । यह लीला दो प्रकार की बताई गई है, प्रकट और अप्रकट । मध्यकाल के भक्त कवियों ने प्रकट लीला का ही गान किया है परन्तु अप्रकट नित्यलीला को वे भूले कभी नहीं<sup>३</sup> ।

हमें जो बात अच्छी तरह याद रखने की है वह यह है कि भक्त का भगवान् के साथ जो भी सम्बन्ध क्यों न हो, निखिलानन्द-सन्तोह भगवान् श्रीकृष्ण ही उस प्रेम के आलंबन हैं । आलंबन, जैसा कि सभी जानते ही हैं दो प्रकार के होते हैं, विषय-रूप आलम्बन और आश्रयरूप आलंबन । दुष्यन्त को देखकर अगर शकुन्तला के हृदय में प्रेमभाव उत्पन्न हुआ है तो दुष्यन्त विषय रूप आलंबन हैं और शकुन्तला आश्रयरूप । वैष्णव भक्त भगवान् को विषयरूप आलंबन के रूप में ही देखते हैं । गोपियाँ, यशोदा, नंद, गोपबाल, उद्धव आदि सभी भक्त आश्रयरूप आलंबन हैं । इन सब की एकमात्र अभिलाषा यही होती है कि भगवान् हमसे प्रसन्न हों । अगर हम इस बात को ध्यान में रखे बिना वैष्णव साहित्य को पढ़ेंगे तो हम धाटे में रहेंगे । यह भाव नाना भाव से

<sup>१</sup> यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।

अभ्युत्थानमवमर्त्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ गी० ४/७

<sup>२</sup> स्वलीलाकीर्तिविस्ताराद् भक्तेष्वनुविष्टया ।

अस्य जन्मादिलीलानां प्राकट्यं हेतुरुत्तमः ॥

—अष्टभगवतामृत में भट्टमाधकपुराण का वचन

<sup>३</sup> जगन्नायक-जगद्दीप्त विचारी जगत्जननी जगरानी ।

नित विहार गोपाञ्ज ज्ञान-संग सृष्टावन रजधानी । —सूरदास

भक्त कवि की कविता में आया। इसी रूप में न देखने का परिणाम यह हुआ है कि सुरदास की वर्णन की हुई श्रीकृष्ण की बाल-लीला को बड़े-बड़े सद्गुरुओं तक ने इस प्रकार समझा है मानों वे स्वभावोक्ति के उत्तम उदाहरण हैं। नहीं, वे स्वभावोक्ति के उदाहरण नहीं हैं, वे उससे बड़ी चीज हैं। सारा के साहित्य की बात मैं नहीं जानता क्योंकि वह बहुत बड़ा है और उसका एक अंशमात्र हमारा जाना हुआ है, परन्तु हमारे जाने हुए साहित्य में इतनी तत्परता मनोहारिता और सरसता के साथ लिखी हुई बाललीला अलभ्य है बालकृष्ण की एक-एक चेष्टाओं के चित्रण में कवि कमाल की होशियागी और सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय देता है न उसे शब्दों की कमी होती है न अलंकार की, न भावों की न भाषा की। क्यों ऐसा है? क्या कारण है कि शताधिक पदों में बार-बार दुहराई हुई बात इतनी मनोरम हो गई है? क्या कारण है कि उपमाओं, रूपकों और उपेक्षाओं की जमात हाथ जोड़कर इस बार-बार दुहराई हुई लीला के पीछे दौड़ पड़ी है? इसका कारण यशोदा का निखिलानन्दसंदोह भगवान् बालकृष्ण के प्रति एकान्त आत्मसमर्पण है। अपने आपको मिटाकर, अपना सर्वस्व निछावर करके जो सन्मयता प्राप्त होती है वही श्रीकृष्ण की इस बाललीला को संसार का अद्वितीय काव्य बनाए हुए है। यशोदा को उपलक्ष्य करके वस्तुतः सुरदास का भक्त-चित्त ही शत रसस्रोतों में उद्वेल हो उठता है। वही चित्त गोपियों गोपालों—और सबसे बढ़कर राधिका—के रूप में भी अभिव्यक्त हुआ है। इसीलिये सुरदास की पुनरुक्तियाँ जरा भी नहीं खटकती और वाक्चातुर्य इतना उत्तम कोटि का होकर भी व्यंग्यार्थ के सामने अत्यन्त तिरस्कृत हो गया है। वर्णन-कौशल यहाँ प्रधान नहीं है, वह भक्त के मदान् आत्मसमर्पण का अंगमात्र है। किन्तु साधक भक्त लोग लीला के विरहरूप को जितनी आसानी से अनुभव कर सकते हैं उतना मिलनरस को नहीं, जिस दिन साधक सिद्ध हो जाता है और भक्ति अर्थात् चिन्मय रस के एकमात्र आकर निखिलानन्दसंदोह भगवान् से मिलकर एकमेक हो जाता है उस दिन कुछ कहने को बाकी नहीं रह जाता। इसी सिद्धावस्था को बताने के लिये कबीरदास ने कहा है : -

कहना या सो कह दिया, अब कुछ कहना नाहि ।  
 एक रही वूजी गई, बैठा दरिया माहि ॥  
 साली-शब्दी जब कही, तब कुछ जाना नाहि ।  
 बिछुरा या तबही मिला, अब कुछ कहना नाहि ॥

भगवान् के साथ गोवियों या श्रीराधा के मिलन के विषय में गान करता हुआ भक्त सद्गुरु के बताए हुए लीलामार्ग को दुहराता है और आशा करता है कि उनके सत्संग से प्राप्त की हुई हृदयकर्ण की रसायनरूप कथा को सुनते-सुनते भक्ता, प्रीति और भक्ति भी प्राप्त हो जायगी । श्रीमद्भागवत में यह बात स्पष्ट शब्दों में कही गयी है<sup>१</sup>, परन्तु विरह की अवस्था में यह स्वयं अपने आपको निःशेष रूप से उँडेल देता है । यही कारण है कि भक्त की विरहकथा अधिक सरस, अधिक भावप्रवण और अधिक द्रावक होती है । यशोदा द्वारा कथित निम्नलिखित पदों में सूरदास स्वयं फूट पड़े हैं :—

मेरे कान्हू कमलदललोचन ।

अबकी बार बहुरि फिर आबहु कहाँ लगे जिय सोचन ।  
 यह लालसा होती जिय मेरी बैठी देखत रैहाँ  
 गाइ चराबत कान्हू कुँआर को कबहुँ जान न दैहाँ ॥

और

यद्यपि मन समुभावत लोग ।

सुल होय नवनीत देखि मेरे मोहन के मुँह योग ॥  
 मातकाल उठि माखनरोटी को दिन माँगे देह ।  
 अब उहि मेरे कुँआर कान्हू को छिन छिन अकम लैहै ॥

यशोदा का यह रूप तभी समझा जा सकता है जब पूर्ववर्ती बाललीलाओं को इसी प्रेम का एक रूप माना जाय । स्वभावोक्ति का

<sup>१</sup> सतां प्रसंगात्मम वीर्य-संविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः ।

तज्जोषण्यादारुणपवर्गवर्धनि श्रद्धारतिभक्तिरनुक्रमिष्यति ॥

चमत्कार देखने वाले यशोदा के इस और उस रूप में कोई एकरूपता नहीं खोज पाएंगे। हम आगे चलकर देखेंगे कि राधिका के रूप में सुरदास ने भक्त-हृदय का जो चित्र खींचा है वह इसी अपूर्व तन्मय प्रेम का आभय-मेढ से परिवर्तित रूपान्तरमात्र है। सुरदास ने जिस प्रेम का चित्रण किया है वह अपना उपमान आप ही है। उसमें उस प्रेम की गंध भी नहीं है जो प्रिय की संयोगा-वस्था में उनकी विरहाशंका से उन्काठित और वियोगावस्था में मिलन-लालसा से व्याकल हुआ रहता है। वह संयोग में सोलह आना संयोगमय और वियोग में सोलह आना वियोगमय है। राधा और कृष्ण के नाम पर प्रेम के काव्य अनेक लिखे गए हैं, रीतिकाव्य का प्रायः सारा का सारा इसी प्रेम-लीला का विस्तार है। उनमें वियोगी के सभी रूपों का—गूँसराग, मान, प्रेम-वेचिन्ध या प्रवास—का बाह्यरूप जैसे का तैसा मिल सकता है। पर प्रेम का वह वास्तविक चित्रण जिसमें बाह्यरूप (फार्म) गौण हो जाता है, जिसमें बतुरों के बताए हुए भेद उपभेद होकर भी धन्य होते हैं और न होकर भी धन्य होते हैं, दुर्लभ है। संस्कृत कवि ने दो प्रेमिका सखियों के रूपक से इस रहस्य को समझाया है। एक के प्रिय ने उसके कपोल पर सुझौल पुष्प मंजरी अंकित कर दी थी। वह अपने प्रेम का यह विज्ञापन गर्व के साथ दिखा रही थी कि दूसरी ने कहा 'ये सखी, तू प्रिय की अपने हाथों अंकित मंजरी को इस प्रकार दिखाती हुई गर्व कर रही है यह उचित नहीं है, दूसरी कोई भी इस प्रकार के सीभाग्य का पात्र बन सकती थी यदि हाथ की कँपकँपी बीच में विघ्न न पैदा कर देती'।<sup>१</sup> पहली का प्रेम केवल प्रेम का बाह्य प्रदर्शन है। मंजरी का अंकित होना केवल उस प्रेम का उल्लापन ही दिखाता है, असली प्रेम तो वहाँ है जहाँ हाथ कँप जाना है, मंजरी का रूप बन ही नहीं पाता। सो, नाना भावों और विभावों के

<sup>१</sup> मा गर्वमुद्रह कपोलतले चकास्ति  
कान्तस्वहस्तलिखिता मम मंजरीति ॥  
अन्धापि कापि सखि भाजनसीदृशानां ।  
वैरी न चेज्जवति वेपथुरन्तरायः ॥

चित्रण मात्र से और राधा और कृष्ण का नाम लेने भर से ही कविता उस श्रेणी की नहीं हो जाती जहाँ राधा या गोपियों के बहाने भक्त अपने आपको दलित ब्राह्मण के समान निचोड़ कर अपने परमाराध्य के चरणों में निछावर कर देता है। वहाँ भावों और हावों के सूक्ष्म भेद भूल जाते हैं। महाप्रभु को किसी आलंकारिक रसाचार्य ने जब मिलन और विरह—संयोग और विप्रलम्भ—की नाना अवस्थाओं और कोटियों का तत्त्व समझाया तो उन्होंने फातर भाव से विवर्जका का बताया जाने वाला वह श्लोक पढ़ा जिसमें कहा गया है 'ऐ सखी तू धन्य है जो प्रिय-मिलन के समय की उसकी कही हुई स्तुतियाँ याद रखे हुई हैं, एक मैं आभागी हूँ कि प्रिय ज्योंही मुझे दर्श करता है त्योंही, कसम खाकर कहती हूँ, जो कुछ भी याद रह जाय'। वस्तुतः बाह्य रूप और परिस्थितियाँ अनहूँचे मानस के विकल्प हैं। सूरदास उस विकल्प के आडंबर से बहुत ऊपर हैं। उन्होंने उस प्रेम-निधि को पाया था जो नये रूपों और आकारों को जन्म दिया करता है। बालस्वभाव का वर्णन हो या प्रेमलीला का, सर्वत्र वे गंभीर हैं। यह जो कान्ताभाव की रति है वह इस देश के निर्गुण भाव के उपासक भक्तों में भी पाई जाती है। कबीरदास, दादू आदि भक्तों में भी यह भाव है परन्तु वहाँ समासोक्ति पद्धति से काम लिया जाता है और लौकिक कान्ताविषयक प्रीति व्यंजना का विषय होती है।

कबीरदास प्रायः ऐसे पदों के अन्त में सद्गुरु या संतों का नाम सावधानी से ले लेते हैं, जिससे आध्यात्मिक प्रीति निश्चित रूप से प्रस्तुतार्थ हो जाती है २

१ धन्यासि या कथयसि प्रियसंगमेऽपि  
विश्रब्धचाटुकशतानि रतान्तरेषु ॥  
नीचीं प्रति प्रणिहिते तु करे प्रियेण  
सख्यः शपामि यदि किञ्चिदपि स्मरामि ॥

२ सु०—नैहरवा हमकाँ ना भावै ।

साईं की नगरी परम अति सुन्दर जहाँ कोई जाइ न आवै ।  
चौंद सुरुज जहाँ पवन न पानी को संदेख पहुँचावै !

इस विषय में रवीन्द्रनाथ के गानों में कवित्व इतना अधिक होता है कि वहाँ सहृदय के हृदय की चरित अनुभूति के अनुकूल लौकिक और अलौकिक दोनों ही प्रस्तुत हैं और दोनों ही व्यजना के विषय हो जाते हैं जब वे कहते हैं—‘अरी ओ अभागिन, तुझे कैसी नींद आ गई थी जो प्रियतम के पास आने पर भी जाग नहीं सकी। वह निस्तब्ध रात्रि में आया था, हाथ में उसके बीछा यी, तेरे स्वप्न में उसने गंभीर रागिणी वज्र दी और तू सोती ही रही। हाथ जाग के देखती हूँ दक्खिनी हवा को पागल बनाकर उसका सौरभ अंधकार में व्याप्त होकर प्रवाहित हो रहा है ! हाथ, क्यों मेरी रात व्यर्थ चली जाती है, उसे नजदीक पाकर भी नहीं पा सकती, क्यों उसकी माला का स्पर्श मेरे यक्षस्थल को नहीं लगने पाता ?’ तो प्रस्तुतार्थ लौकिक प्रेम भी हो सकता है और अलौकिक भी। किन्तु साथ पदबंध सहृदय को एक अलौकिक रसाभूति

वरद यह साईं को सुनावै !  
आगे चलों पथ नहिं सुनै पीछे दोष लगावै ।  
केहि विधि ससुरे जांव मोरी सजनी विरहा जोर जनावै ।  
खिचै रस नाच भवावै ।  
बिन सतगुरु अपनो नहिं कोई जो यह राह बतावै ।  
कहत कबीर सुनो भाई साधो सपने न प्रीतम पावै ।  
तपन यह जियकी बुझावै ॥

१ से ये पाशे ऐसे बसेछिल तबु आगिनि  
की घूम तोर पेचेछिल हतभागिनी !  
एसेछिल नीरव राते दीया क्षानि छिल हासे  
स्वपन माके बाजिये गेळ गभीर रागिणी ।  
जेरो देखि दखिन हाथा पागळ करिया ।  
रांध ताहार भेसे बेबाय आंधार भरिया  
केन आमार रजनी जाय, काछे पेये काछे ना पाय  
केन गो तार भाकार परश बुके आगिनि ।

(गीतांजलि)



कराए बिना विश्रान्त नहीं होता। वैष्णव भक्तों (सगुण मार्गों) का रास्ता दूसरा है, वे भगवान् के साक्षाद्विग्रहवान् रूप की लीला गाते हैं और गोपियों के बहाने अपना प्रीति-नियेदन करते हैं।

साधारण आदमी पूछ सकते हैं कि भक्त कान्ताभाव से ही परम शक्ति की उपासना क्यों करता है? भगवान् को प्रिया के रूप में समझकर क्या उपासना नहीं हो सकती? हो सकती है। इस देश में इस प्रकार की उपासना-पद्धति भी अनजानी नहीं है, पर भक्त जिस कारण से अपने को भगवान् की कान्ता समझने में आनन्द अनुभव करता है, वह उपेक्षणीय नहीं है। आगम शास्त्रियों का विश्वास है कि भगवान् ने लीला के लिये जब सृष्टि उत्पन्न करनी चाही तो अपने को उन्होंने द्विधाविभक्त किया। इसमें एक ओर तो नारायण हुए और दूसरी ओर उनकी शक्ति लक्ष्मी। शक्ति निषेधव्यापाररूपा होती है, क्योंकि भगवान् की उस इच्छा का रूप है जिसके द्वारा वे 'कुछ' के अभाव को अनुभव करते हैं। स्त्री में इसी शक्ति का प्राधान्य है। इसलिये स्त्री निषेधव्यापाररूपा या अपने आप को समर्पण करके ही सार्थक होती है। भक्ति में इसी निषेधव्यापार या आत्म-समर्पण का भाव सेवक में स्वामी के लिये, माता-पिता में सन्तान के लिये और मित्र में मित्र के लिये भी होता है, फिर भी कान्त के लिये आत्म-समर्पण की भावना चरम-सीमा पर पहुँचती है। यही कारण है कि भक्त कान्ताभाव के भजन को इतना श्रेष्ठ समझता है।

यह ध्यान में रखने की बात है कि लौकिक प्रीति होने पर प्रेम जड़ोन्मुख होता है और इसलिये कान्ताभाव में जड़शक्ति ही चरम रूप में विद्यमान होती है। लौकिक प्रीति का विषय होने पर यह प्रेम शृंगाररस का विषय होता है और सब प्रेमों के नीचे पड़ जाता है, परन्तु जब यह चिन्मुख होता है अर्थात् भगवद्विषयक होता है, इसका नाम उब्बल रस होता है। यही श्रेष्ठ रस है। जिन लोगों में आत्मसमर्पण की भावना का प्राधान्य नहीं है वे इस रास्ते को नहीं अपनाते। परन्तु भक्ति भगवान् के प्रति अनन्यभागी एकान्त प्रेम का ही नाम है और उसमें ऊपर बताए हुए किसी-न-किसी प्रकार

के आत्म-समर्पण का मार्ग ही स्वीकार करना पड़ता है। सुखास में वास्तव्य, सख्य और मधुर भावनाओं का बड़ा ही उत्तम परिवाक हुआ है। हमने अपनी अन्य पुस्तकों में विस्तृत रूप से इन बातों की चर्चा की है। यहाँ हम अधिक कुछ न कहकर भक्त कवियों की राधिका के उस प्रेम की चर्चा करना चाहते हैं, जो उन की अपनी विशेषता है। इस प्रेम के पूर्ण चित्र को दिखाने का हम समय न पा सकेगे परन्तु उस विरह रूप को कुछ अधिक विस्तार के साथ ही दिखाने का प्रयत्न करेंगे जिससे साधक भक्त अपनी कष्टर मनोवाङ्छा धार-वार प्रकट कर सकाई और इसीलिये जो भक्त कवि को समझने में सबसे बड़ा सहायक है।

---

## १८. राधिका का स्वरूप

यदि विगुद्ध काव्य की दृष्टि से देखें तो राधिका विशुद्ध गीतिकाव्यात्मक पात्र है। इस गीतिकाव्य का उत्तम विकास चंडीदास के पदों में हुआ है। चंडीदास की राधिका परकीया नायिका है और उनका मिलन क्षणिक और उत्कंठापूर्ण होता है। परन्तु सूरदास की राधिका न केवल स्वकीया नायिका है, बल्कि उनका प्रेम चिरसाहचर्यजन्य और उत्कंठाहीन है। मुझे आचार्य नंदलाल बसु ने बताया था कि आर्ट में इस प्रकार देखा गया है कि गीतिकाव्यात्मक मनोरागों को आश्रय करके महाकाव्यात्मक शिल्पका निर्माण हुआ है। ताजमहल ऐसा ही महाकाव्यात्मक शिल्प है, जिसका मूल मनोराग गीतिकाव्यात्मक या लिरिकल है। सूरसागर भी इसी प्रकार का महाकाव्यात्मक शिल्प है जिसका मूल मनोराग लिरिकल या गीतिकाव्यात्मक है। हिन्दी में एक ऐसे समालोचकों का दल पैदा हुआ है जो हर काव्य में महाकाव्य या प्रबन्ध काव्य का गुण खोजता है और न पाने पर अफसोस प्रकट करता है। ऐसे समालोचकों की लपेट से सूरदास भी नहीं बचे हैं। ये लोग एकदम भूल जाते हैं कि काव्य के प्रतिपाद्य के भीतर ही गीतिकाव्यात्मकता हो सकती है और उस प्रतिपाद्य को लेकर महाकाव्य की रचना उपहासास्पद प्रयत्न हो सकता है। सूरदास ने यदि राधिका के प्रेम को लेकर गीतिकाव्य की रचना न करके प्रबन्धकाव्य की रचना की होती, तो असफल हुए होते परन्तु मैंने शुरू में ही आपसे बताया है कि गीतिकाव्यात्मक मनोरागों पर आधारित विशाल महाकाव्य ही सूरसागर हैं। वर्णाना-नैपुण्य और भाषागत माधुर्य के प्रवाह में पड़ा हुआ सहृदय यह भूल ही जाता है कि सूरदास ने राधिका और श्रीकृष्ण के प्रेम का एक ऐसा संपूर्ण चित्र खींचा है, जो गीतिकाव्यों के भीतर से महाकाव्य के रूप में प्रकट हुआ है। सूर-साहित्य में विस्तारपूर्वक मैंने इस विषय की चर्चा की है। अन्य भक्तकवियों की भाँति सूरदास ने राधिका और कृष्ण

को एकाएक नहीं मिला दिया। यही कारण है कि पूर्वराग की वह व्याकुल वेदना सूरसागर में नहीं मिलेगी, जो चंडोदास या विद्यापति की पदावलिओं में प्राप्य है। परन्तु इसमें एक विशेष प्रकार की वेदना है, जो सूरदास की अपनी विशेषता है। राधिका और कृष्ण एक ही साथ खेलते-खाते बड़े होते हैं, फिर भी पूर्वाग की एक विचित्र वेदना दोनों ही अनुभव करते हैं। यह कुछ ऐसी चीज है जिसे कोई आनंकारिक बता नहीं सका। इस विषय में हम आगे विस्तारपूर्वक विचार करेंगे। यहाँ प्रकृत प्रसंग है राधिका का स्वरूप। सत्त्व में श्री राधिका भगवान् की ह्लादिनी शक्ति हैं। सत् चित् और आनन्द-स्वरूप परब्रह्म की ह्लादिनी शक्ति ही उसकी विशेषता है। सत् चित्—सचा और चैतन्य तो जीव में भी पाए जाते हैं, ब्रह्म की विशेषता उसका आनन्दमय रूप है। राधा उसी आनन्दमयता को रूप देनेवाली ह्लादिनी शक्ति है। इसीलिये राधिका और गोपियों में श्रेष्ठ है। मध्यकाल के भक्तों ने अपने में गोपियों का या कृष्ण सखाओं का अभिमान करके—अपने को गोपी या गोपाल समझ करके—भगवान् से प्रीति करने की साधना की थी पर राधिका रूप का अभिमान करने का दावा बहुत कम भक्तों ने किया। यह दुर्लभ साधना बहुत ही महान् मानी गई। बंगाल के श्री चैतन्यदेव ने, कहते हैं, इसी महाभाव की साधना की थी।

यह साधना कठिन क्यों है? क्योंकि राधिका रूप, गुण, शील और श्रीदार्ढ्य की ऐसी परिपूर्ण मूर्ति है कि प्राकृत मनुष्य के लिये उनका अभिमान लगभग असंभव है। फिर भी राधा देवी के गुणों का बखान करके और भगवान् के साथ की गई उनकी लीलाओं का स्मरण करके भक्त उस महिमा का किंचित् अनुभव करता है। भक्त कवियों ने राधा की लीलाओं का सूत्र वर्णन किया है।

परन्तु भक्त वस्तुतः विरह को अवस्था में ही भगवान् की लीलाओं का ठीक-ठीक अनुभव कर सकता है। यही उसकी साधकावस्था में संभव है। संयोगावस्था तो सिद्धावस्था की बात है। विरह में ही भक्त साधकावस्था के अनुभव प्राप्त करता है।

आगे की पंक्तियों में राधिका की विरहावस्था की बातें बताई जा रही हैं। यह भक्त कवियों की अनुभूति का ही एक रूप है।

## २६. गीतगोविन्द की विरहिणी राधा

भक्त कवि जयदेव का 'गीतगोविन्द' एक अद्भुत रचना है। सैकड़ों वर्षों से वह भक्तों का कंठहार बना हुआ है। राधारानी के जिस प्रेममय हृदय का चित्रण इस ग्रंथ में पाया जाता है वह अनुलनीय है। सुदूर प्रवास का वर्णन इस ग्रंथ में नहीं हुआ है। नहीं हुआ है, यही खैर है। नहीं तो जिस उद्दाम प्रेममयी राधिका का दर्शन पुस्तक का प्रथम पृष्ठ खोलते ही होता है, उसकी जो दशा सुदूर प्रवास के वियोग में दिखाई पड़ती उससे हृदय टूक-टूक हो जाता, राधिका के पूर्व राग और मान के समय जो प्रेम दिखाई देता है यह कोई बाधा नहीं मान सकता। शुरू में ही देखते हैं, वसन्त में वासन्ती कुसुमों के समान मुकुमार अवयवों से उपलब्धिता राधा गहन वन में बारम्बार श्रीकृष्ण का अन्वेषण करके थक-सी गई हैं। फिर भी विराम नहीं, खोज जारी ही है। कन्दर्प उबर—उत्कट प्रेमपीड़ा की चिता से बे अन्वधिक कातर हो उठी हैं। सखी उनसे धीरे-धीरे सरस वाक्यों में भगवान् का गुणगान कर रही हैं—

वसन्ते वासन्तीकुसुममुकुमारैरवयवै-

भ्रमन्ती काम्तारे बहुविहितकृष्णानुसरणाम् ;

अमन्दं कंदर्पञ्जरजनितचिंताकुलतया

वलद्वाधा राधा सरसमिदमूचे महचरी

सहचरी ने श्रीकृष्ण की जिस लीला का वर्णन किया वह किसी भी युवती को हताश कर सकती थी। वसन्त का सरस समय है, मलय-माकत ललित लवंगलता के परिशीलन से कोमल हो गया है, कुत्रकुटार में भौंरो का भुँद भुँद का रहा है कोकिल कूज रहे हैं, ऐसा है वह देश और ऐसा है वह काल।—विरहियों के लिये दुःख, दारुण ! भगवान् गोप-लक्ष्मणों के साथ केलिक्रीड़ा में रत हैं—

ललितलवंगलतापरिशीलनकोमलमलयसमीरे,  
मधुकरनिकरकरगितकोकिलकूजितकुंजकुटीरे ।

विहरति हरिहि सरसवसन्ते

मृत्पात युवसिजनेन सम सखि विरहिजनस्य दुरन्ते ।

सखी और आगे बढ़ती है । बताती है, यह वसन्त का समय सचमुच दारुण है विरहिया पथिक-बधू के हृदय में एक ही साथ हर्ष और काम का उद्बोधन हुआ है, वह रो रही है । भ्रमरयूथ से घिरे हुए पुष्पों से मौलसिरी के वृक्ष भरे हुए हैं; तमाल के नये किसलयों ने कस्तूरी के सौगंध को बस में कर लिया है; लाल पलाश-पुष्पों को देखकर जान पड़ता है कि ये युवक-युवतियों के हृदय विदारण करनेवाले मनसिज के रक्तविलिप्त नख हैं; नागकेसर के श्वेत पटल-शोभित पीले-पीले फूल मदनमहीपति के सुवर्णदंडयुक्त छत्र की छवि धारण किए हैं; पाटल-पुष्पों पर मिली हुई भीरों की टोली देखकर अनुमान होता है कि कामदेवता का दूषीर (तरफस) है; संसार को विगलित और लजित देखकर ही मानो तरुण (नया) कस्य का श्वेत पुष्प हँस रहा है; विरहियों को वेधने के लिए कुंत (भांसे) के समान सुँहवाले केतकपुष्पों ने दिशाओं को विषम कर दिया है; माधवी के परिमल से वसन्त-काल ललित और नवमालती तथा जाती-पुष्पों से शोभित हो गया है; तरुणों के अकारण बन्धु, मुनिमन के मोहक तरुण रसाल वृक्ष इस वसन्त-काल में हिलती हुई माधवी लता के आलिंगन से पुलकित हैं ऐसे समय में समीपवर्ती यमुनाजल से पवित्र और शीतल हृन्दावन में भगवान् युवतियों के साथ खेल रहे हैं—

तन्मदमदनमनोरथपथिकबधूजनजनितविलापे ।

अलिकुलसंकुलकुसुमसमूर्शनराकुलभकुलकलापे । विह० ॥

मृगमदसौरभरभसवशवदनवदलमालतमाले ।

युवजनहृदयविदारयमनसिजनखरुचिकिशुकजाले ॥ विह० ॥

मदनमहीपतिकनकदंडरुचिकेशरकुसुमविकासे ।

मिलितशिलीमुखपाटलपटलकृतस्मरतूणविलासे ॥ विह० ॥

विगलितलज्जितजगदवलोकमतस्याकङ्क्षकृतहासे ।  
 विरहिनिक्लृप्तनकुन्तमुखाकृतिकेतकदन्तुरिताशे ॥ विह० ॥  
 माधविकापरिमलललिते नवमालतिआतिसुगंधौ ।  
 मुनिमनसामपि मोहनकारिणि तरुणाकारणधन्यौ ॥ विह० ।  
 स्फुरदतिभुक्तलतापरिरम्भय मुकुलितपुलकितचूते ।  
 हृन्दावनविधिने परितरपरिगतयमुमाजलपूते ॥ विह० ॥  
 श्रीजयदेवकवेरिषमुदयति हरिचरणस्मृतिसारम् ।  
 सरसवसन्तसमयवनवर्धनमनुगतमदनविकारम् ॥ विह० ॥

सखी ने आगे चलकर “अनेकनारीपरिरंभसंभ्रमस्फुरन्मनोहारि विलास लालस” भगवान् को दिखाते हुए जो कुछ कहा उससे किसी भी प्रेमिका की प्रेम-लालसा शिथिल पड़ सकती थी। भगवान् का रूप सचमुच ईर्ष्या का उद्बेलक था—उनका नील कलेवर चंदन से चर्चित था, उस पर पीत वस्त्र लहरा रहा था, इन दोनों के ऊपर वनमाला बहार दे रही थी, गण्डस्थल पर लटकते हुए मणिकुंडल केलि के वेग से हिल रहे थे। इस प्रकार हँसते हुए श्यामसुंदर मुग्ध ब्रजोंगनाओं के साथ केलि कर रहे थे—

चन्दनचर्चितनीलकलेवरपीतवसनवनमाली ;  
 केलिचलन्मणिकुंडलमंडितगण्डयुगः स्मितशाली ।  
 हरिरिह मुग्धवधूनिकरे विलासिनि विलसति केलिपरे ।

राधिका ने और भी सुना—सबको अनुरंजित करके आनंद देते हुए, नील कमल की श्रेणी के समान सुंदर अंगों से अनंगोत्सव-समारोह में लगे हुए, स्वच्छंद भाव से ब्रजललनाओं द्वारा आलिगित मुग्ध माधव इस वसन्त में साक्षात् शृंगार की भाँति कीड़ा कर रहे हैं—

विश्वेषामनुरंजनेन जनयलानन्दमिन्दीवर  
 श्रेणीश्यामलकोमलैरपनयन्नंगैरनगोत्सवम् ;  
 स्वच्छन्दं ब्रजसुंदरीभिरभितः प्रसंगमालिगितः  
 शृंगारः सखि मूर्तिमानिव मधो मुग्धो हरिः क्रीडति ।

इतना पर्याप्त था। अपने प्रेम का पराभव देखकर राधिका टिठक गई। वे उलटे पांव लौट आईं। पर हाथ! इस लौटने में जो कसक थी, जो टीस थी, उसे क्या किसी ने देखा? अपना सर्वस्व लेकर चली हुई, पर प्रेम के सिद्धांतर से लौटती हुई, प्रणयिनी के हृदय को किसने समझा है? राधा का सारा हृदय-सौंदर्य यहीं फूट पड़ा है। पारखी जयदेव ने उसे देखा था। पास ही एक खताकुज था, मधुव्रतों की मंडली उस पर गुंजार कर रही थी, उसी में छिपी हुई दीन राधिका सखी से बोलीं। उनका हृदय बैठ चुका था। जिसे एकमात्र अपना ही धन समझ रखा था उसे गोपबधुओं से समाहित देखकर वे कातर हो उठी थीं। फिर भी बोलीं—

क्वचिदपि लताकुंजे गुजन्मधुव्रतमंडली ;

मुखरशिखरे लीना दीनाऽप्युवाच रहः सखीम् ।

राधिका ने जो कुछ भी कश वह मानिनी प्रणयिनी के योग्य नहीं है। उसमें एक कातरता है, उसमें एक दुर्बलता है। कातरता का कारण प्रिय-समागम की उन्कट लालसा है और दुर्बलता का कारण प्रेम की अनन्यता। वे कहती हैं—

हे सखी, रास में विलास करते हुए, नर्म केलि से मुसकुराते हुए भगवान् को मेरा मन स्मरण कर रहा है कैसे ये वह सुंदर श्याम !

वे मोहन वंशी बजा रहे थे, जिसकी ध्वनि अधर-सुधा के संचार से और भी मधुर हो उठी थी; दृगंचल और मौलिदेश चंचल हो रहे थे; इसीलिये कपोल पर लटके हुए आभूषण भी हिल रहे थे—

सचरदधरसुधामधुरध्वनिमुखरितमोहनवंशम् ;

चलितदृगंचलचंचलमौलिकपोलविलोलवर्तंसम् ।

रासे हरिमिह विहितविलासम्

स्मरति मनो मम कृतपरिहासम् ।

चंद्रकार चिह्नो से खचित सुंदर मयूरपद्म के मंडल से उनका केश वेष्टित था, प्रचुर इंद्रधनुष से अनुरजित सान्द्र स्निग्ध मेघ की भाँति उनका वेश बड़ा ही प्रियदर्शन था—



चंद्रकचारुमयूरशिखडकर्मदलवलितकेशम् ।

प्रचुरपुरंदरधनुरजितमेदुरमुदिरसुवेशम् ॥ रासे० ॥

गोपवधूटियों के मुखचुंबन में उन्होंने उनको लोभ प्राप्त करा दिया था, उनके बन्धुजीव पुण्यों के सामान लाल-लाल मधुर-पल्लवों पर सुसज्जित की शोभा उल्लसित हो रही थी —

गोपकदम्बनितम्बवतीमुखचुम्बनलंभितलोभम् ।

बन्धुजीवलधुराधरपल्लवमुल्लसितस्मितशोभम् । रासे० ।

विपुल रोमांच से कंडकित भुजपल्लवों द्वारा उन्होंने अनेक गोपीगताओं का आलिंगन किया था, उनके हाथों, चरणों और हृदय-वेश पर जो मणियों के अलंकार थे उनकी किरणों से अंधकार नष्ट हो रहा था—

विपुलपुलकभुजपल्लववलितवल्लवमुवसितसहस्रम् ;

करचरणोरसि मणिगणभूषणकिरणविभिलतमिक्षम् ,

उनके ललाट पर का चन्दन मैघ-पटल पर चलते हुए चंद्रमा की शोभा का तिरस्कार कर रहा था, कैलि विशेष से उनके हृदय की कठोरता प्रकट-सी हुई जा रही थी—

जलदपटलचलदिन्दुविनिन्दकचन्दनतिलकललाटम् ;

पीनपयोधरपरिसरमर्दननिर्दयहृदयकपाटम् ।

मणि-निर्मित मकर-से मनोहर कुंडल से उनका गण्डस्थल सुशोभित था, वे पीत वस्त्र धारण किये हुए थे मैं उनकी सहज उदारता हृन् से अनुमान कर सकती हूँ कि मुनिगण, मनुष्य, देवता और राज्ञों का परिवार भी उनका अनुगत है—

मणिमयमकरमनोहरकुंडलमंडितगण्डमुदात्तम्;

पीतवसनमनुगतमुनिमनुत्सुरासुरवरपरिवारम्

विशद कदम्ब-तच के नीचे सम्मिलित जनों के कलिकलुष को वे शमन कर रहे थे और मुझे भी तरंगित प्रेमदृष्टि और मन से रमण कर रहे थे —

विशदकदम्बतले मिलित कलिकलुषमयं शमयन्तम्,

मामपि किमपि तरंगदन्तगदशा मनसा रमयन्तम् ।

यह सब जानकर भी राधिका अत्यन्त कातरतापूर्वक सखी से प्रार्थना करती है कि मुझे कृष्ण से मिला दे—

सखि हे केशिमथनमुदारम् ।

रमय मया सह मदनमनोरथभाधितया सविकारम् ।

क्या हुआ अगर वे बहु-वल्लभ हैं, क्या हुआ अगर वे हमारे प्रेम की चिंता नहीं करते—हम तो उन्हींकी हैं । उनके बिना कोई गति नहीं । ब्रजसुंदरीगण से आहत हों, तो भी मैं उन्हें देखकर प्रसन्न हूँगी—

‘गोविंदं ब्रजसुंदरीगणहृतं पश्यामि हृष्यामि च ।’

यही राधिका के हृदय की दुर्बलता है इस दुर्बलता के कारण ही उनका प्रेम इतना वेगवान् हो सका है । इसी कातरता की अर्धच में तपकर यह सोना निरख पड़ा है ।

भगवान् भी राधिका को न पाकर उदास हो गए थे । उनका विरह भी बड़ा मर्मभेदी है । यमुना तीर के बानीर निरुंज ( वेप्रथन ) में वे चुपचाप बैठे थे । राधिका की सखी वहीं जाकर उनकी प्रियतमा का वर्णन करती है—

हे माधव, वह तुम्हारे विरह से कातर है । वह भावना से तुम्हीं में लीन हो गई है—छिप गई है । शायद उसे मनसिज के बाणों से जर लगता है—

सा विरहे सब दीना ।

माधव मनसिजविशिखभयादिव भावनया त्वयि लीना ।

यह चन्दन की निंदा करती है, काधीर भाव से चन्द्रमा की किरणों से दुःख पा रही है । मलय पर्वत से, जहाँ पर सपों का वास है, आई हुई हवा को विष की तरह समझती है । उसके हृदय पर अनवरत प्रेम के देवता के बाणों की वर्षा हो रही है । उसी हृदय में तुम्हारा निवास है । इसीलिये अपने विशाल हृदय को सजल नलिनी-दल के जाल से घेर कर कवच बना रही है । उसका विचार है कि ऐसा करके वह तुम्हें उन बाणों के आघात से बचा लेगी । वह विशेष विलास-कला के लिये मनोहर कुसुम-शयनों की रचना कर रही है । पर इसलिये नहीं कि उससे आराम मिलेगा । उस विरहिणी को आराम कहाँ ? ये कुसुम-शयन तो उसके लिये बाणशय्या के समान हैं । तथापि वह इनकी रचना

कर रही है। इस दुःख की तपस्या वह तुम्हारे परिंभ (आलिगन) सुख की प्राप्ति के लिये कर रही है—

अविरलनिपतितमदनशरादिषु भवदवनाय विशालम्;

स्वहृदयमर्मणि बर्म करोति सजलनलिर्नदलजालम् ।

कुसुमविशिखशरतरुमनरुपविलासकलाकमनीयम्;

व्रतमिव तव परिंभसुत्याय करोति कुसुमशयनीयम् ।

उसके मुखकमल के विलोचनों से सदा बलधारा चला करती है, देख-कर जान पड़ता है मानो राहु के दाँतों से दलित चन्द्रमंडल से अमृत की धारा भर रही हो। एकान्त में कस्तूरी से आपका चित्र बनाती है, उसमें आप कुसुम-शर के रूप में चित्रित होते हैं; नीचे मकर का चित्र बनाती है और आपके हाथ में नयी आस-मंजरी का बाण दे देती है। इस प्रकार आपको प्रशम किया करती है—

वहति च विलितविलोचनजलभरमाननकमलमुदारम् ;

विधुमिव विकटविधुन्तुददन्तदलनगलितामृतभागम् ।

विललति रहति कुरंगमयेन भवन्तमसमशरभूतम् ;

प्रणमति मकरमधो विनिधाय करे च शरं नवचूनम् ।

माधव, आप दुराग अर्थात् दुर्लभ हैं फिर भी ध्यान की तन्मयता से आपको सामने ही कल्पना करके विलाप करती है, हँसती है, विवाद करती है, चलती है, आनंदित होती है। पद-पद पर कहती है—हे माधव, मैं तुम्हारे चरणों पर पड़ी हूँ; तुम्हारे विमुख होने पर अमृत का निधि यह चंद्रमा भी मेरे शरीर में दाह उत्पन्न करता है—

ध्यानलयेन पुरः परिकल्प्य भवन्तमतीव दुरागम्;

विलपति हसति विषीदति रीदिति चंचति मुंचति तापम् ।

प्रतिपद्मिदमपि निगदति माधव तव चरणौ पतिताहम्;

त्वयि विमुखे मयि सपदि सुखनिधिरपि तनुते तनुदाहम् ।

इसी सर्ग के अगले गान से राधिका का विरहोन्माद स्पष्टतर हो उठा है। वे अपने वत्स-स्थल पर के पुष्पहार को भी अपने कुश शरीर की

भौंति ही भार समझ रही हैं; सरस घन चन्दन-पंक को सशंक भाव से विष-की तरह देख रही हैं; मदनाग्नि से तपे हुए की तरह गर्म गर्म दीर्घ श्वास ले रही हैं; जलकण से भरे, नालहीन नलिन के समान नयनों को इधर-उधर फँक रही हैं; सार्धकाल कपोल-तल पर से हाथ नहीं हटाती; इस प्रकार व्याधा ही दिखाई देनेवाला उनका मुहँ स्थिर नवीन चन्द्रमा की तरह दिखाई देता है; नयनगोचर पुष्पशय्या को भी अग्नि की तरह देखती हैं और सकाम भाव से कृष्ण-कृष्ण जप रही हैं क्योंकि उन्हें विरह-वेदना से मरण की आशंका हो गई है—

स्तनविनिहितमपि हारमुदारम्;

सा मनुते कृशतनुरिव भारम् ।

राधिका तब विरहे केशव !

सरसमस्तुष्टमपि मलयजपंकम् ।

पश्यति विषमिव वपुषि सशंकम् ॥ १०

श्वसितपवनमनुपमपरिणाहम् ।

मदनदहनमिव वहति सदाहम् ॥ १०

दिशि दिशि किरति सजलकणजालम् ।

नयननलिनमिव विगलितनालम् ॥ १०

त्यजति न पाणितलेन कपोलम् ।

बालशशिनमिव सायमलोलम् ॥ १०

नयनविषयमपि किशलयतरूपम् ।

गणयति विहितहुताशविकल्पम् ॥ १०

हरिरिति हरिरिति जपति सकामम् ।

विरहविहितमरणेष्वनिकामम् ॥ १०

भीज्यदेवभयितमिति गीतम् ।

सुखयतु केशवपदमुपनीतम् ॥ १०

राधा का प्रेमोन्माद बढ़ा करुणाजनक है—

सा रोमांचित सीत्करोति विलपत्युक्कम्पते ताम्यति;

ध्यावत्युद्भ्रमति प्रमीलति पतत्युयाति मूर्च्छत्यपि ।

भगवान् की दशा भी वैसी ही थी वे बारम्बार दीर्घश्वास ले रहे थे, उल्लुक्ता के साथ बारम्बार चारों ओर देख रहे थे, कभी कुंज से बाहर निकल आते, फिर कुछ गुनगुनाते हुए भीतर घुस जाते, विरह दुःख से खिन्न हो रहे थे। एक बार शय्या-रचना करते थे, फिर व्याकुल भाव से चारों ओर से देखने लगते थे—राधिका-जैसी कान्ता के प्रिय धाकृष्ण विरह-वेदना से क्लान्त हो उठे थे—

विकिरति मुहुःश्वासनाशाः पुरो मुहुरीक्षते

प्रविशति मुहुः कुंजं गुंजन्मुहुराहु ताम्यति ;

रचयति मुहुः शय्यां पर्याकुलं मुहुरीक्षते

मदनकदनकलान्तः कान्ते प्रियस्तव वर्तते ।

यह प्रिय संवाद था। पर हाय ! राधिका में इतनी शक्ति थी कि वे प्रिय को प्रसन्न करने के लिये जा सकें विरकाक्त से अनुरक्त राधिका विरह की मार सह-सहकर इतनी अशक्त हो गई थी कि उनके लिये प्रिय के पास जाना भी असंभव था।

सखी—मनसिज-मन्द मोहिन्द से राधिका की दशा वर्णन करती है—

पश्यति दिशि दिशि रहमि भवन्तम;

तदधमधुमधूनि पिबन्तम।

नाथ हरे सादति राधा वासगृहे।

हे नाथ, हे हरे, राधा वासगृह में कष्ट पा रही है। भावना से, अपने मधुर अमर-मधु को पान करते हुए आपको एकान्त में चारों ओर देख रही है।

स्वदभिमरणा रभसेन चलन्ती।

पतति पदानि कियन्ति चलन्ती। नाथ हरे०

गुम्हारे पास आने के उरसाह से चल पड़ती है, पर कुछ ही पग चलकर गिर पड़ती है। हे नाथ, राधा वासगृह में कष्ट पा रही है।

राधिका के कष्ट पाने का अनुमान सहृदय पाठक स्वयं ही कर सकते हैं। जीवन का एकान्त आराध्य उनके वियोग में लीन हो रहा है, और सारी शक्ति बटोरकर भी वे अभिसरण नहीं कर पातीं। सचमुच यह बड़ी कष्टकर

अवस्था है। इसी बीच विरहिणियों का शत्रु चन्द्रमा आकाश के एक छोर पर दिखाई दिया। सभी राधिका का सन्देश लेकर माधव पास गई थी। उनके आने में कुछ विशेष देर नहीं हुई, पर विरही के लिये समय का छोटे-से छोटा अंश भी कल्प के समान होता है और फिर 'दक् सुन्दरी-वदन-चन्दन-विन्दु' इंदु भी आ उपस्थित हो तब तो कहना है क्या है! राधिका हताश भाव से कातर हो उठी—

जान पड़ता है सखियों ने मुझे धोखा दिया। कथित समय तो बीत गया पर भगवान् तो नहीं आए। हाय! मेरा यह अमल यौवन व्यर्थ हो गया। मैं किसकी शरण जाऊँ, सखियों ने मुझे धोखा दिया!

कथित समयेऽपि हरिरह न दयी वनम् ।  
मम विकलमिदममलरूपमपि यौवनम् ॥  
यामि हे कमहि शरणं सखीजनवचनवचिता ।

जिसके अनुगमन के लिये रात में मैंने गहन व्रत का अनुष्ठान किया उसीने मेरे इस हृदय को मदन-त्राणों से विकल कर दिया। मुक्त (अभागिनी का), जिसका आवास भ्रमशून्य है, मरना ही अच्छा है, भूखित हो-होकर कहाँ तक मैं विरहामि का ताप सहूँ ?—

यदनुगमनाय निशि गहनमपि शीलितम् ।  
तेन मम हृदयमिदममलरूपमकीलितम् ॥ यामि० ॥  
मम मरणमेव वरमिति वितथकेतना ।  
किमिति विषहामि विरहानलमचेतना ॥ यामि० ॥

हाय! यह वसन्त की मधुर रात्रि मुझे विकल कर रही है, कोई अन्य पुण्यशीला रमणी भगवान् के समागम का सुख अनुभव कर रही है। हाय! ये मेरे मणिनिर्मित अलंकार भगवान् के विरह-अग्नि की धारण करने के कारण दोषमय हो गए हैं—

मामहह विधुरयति मधुरमधुयामिनी ।  
कापि हरिमनुभवति कृतसुकृतकामिनी ॥ यामि० ॥

अहह कलयामि वलयादिमणिभूषणम् ।

हरिविरहदहनवहनेन बहुदुष्णम् ॥ यामि० ।

अति विकट है यह मदनबाण की लीला जिसके कारण यह माला भी सुभ्र कुसुम-कोमल शरीरवाली के हृदय में चोट कर रही है। हाय ! मैं तो इस विषम वन की ( भयावनी ) वैश-लताओं का कुछ भी विचार न कर यहाँ ठहरी हुई हूँ, पर भगवान् मुझे मन में भी नहीं याद करते—

कुसुमकुमारतनुमतनुशङ्खीलया ।

लग्नि हृदि हन्ति मामलक्ष्मिपशीलया ॥ यामि० ॥

अहमिह निवसामि न गणितवनचेतसा ।

स्मरति मधुसूदनो मामपि न चेतसा ॥ यामि० ॥

तो क्या भगवान् किसी अन्य मीप-लक्ष्मणा की ओर चले गए ? या शायिों ने उन्हें कला-केलि से अटक तो नहीं रखा ? कहीं वे गहन तिमिराकुल वन में भटक तो नहीं रहे हैं ? कहीं रास्ते में ही फँस जाकर चलने में मेरे कान्त असमर्थ तो नहीं हो गये ? क्या बात है जो वे इस पूर्व निर्धारित मंजुल वंश ( वंश )—लता के कुंज में नहीं आये—

तर्कि कामपि कामिनीमभिस्तः किं वर कलाकेलिभिः—

सँदो वंधुभिरन्धकारिणि वनाभ्यर्ण्य किमुद्भ्रम्याति ।

कांतः फलांतमना मनागपि पथि प्रपातुमेवात्तमः

सकेतीकृतमञ्जु वंशुललता कुञ्जेऽपि वन्नागतः ।

जयदेव ने जिस विरहिणी का चित्र खींचा है उसमें विलासिनी वज्रसुंदरी का रूप रह-रहकर स्पष्ट भलक आता है। कवि की प्रतिज्ञा भी विलास-कलावती हरिप्रिया के चित्रण की ही है। पहला पन्ना खोलते ही कवि अपना काव्य पढ़ने के लिये निर्मग्न देते समय दो शतें रसता दिखाई देता है। यदि हरिस्मरण में मन सरस हो, और यदि विलास-कला में कुदृढ़ हो, तब मधुर कोमलकांत पदावली वाली जयदेव की सरस्वती को पढ़ो—

• यदि हरिस्मरणोत्तरसं मनो

यदि विलासकलासु कुदृहलम् ।

मधुर कोमलकांतपदावलीं

शृणु तदा जयदेवसरस्वतीम् ।

अगर इन दोनों में से कोई एक भी शर्त पूरी न हो, तो जयदेव की सरस्वती का आनंद उठाना असंभव है। जयदेव की विलासिनी राधा और कितन कृष्ण की विलास-कला वस्तुतः आबी भी नहीं रहेगी अगर राधिका को एकांत प्रेम-निर्भर भक्त के रूप में न देखा जाय, भगवान् की प्राप्ति के लिये जयदेव की राधा इतनी व्याकुल है कि वे सभी कारण जो तात्कारिक रमणियों की विरक्ति के साधन हैं उन्हें प्रेम के मार्ग से विचलित नहीं कर सकते। यह कुसुम-कोमल शरीर बिह-ताप को अधिक सहन कर ही नहीं सकता। राधिका कहती है—

नयातः सखि निर्दयो यदि शठरूपं दूति किं दूयसे !

स्वर्णदं षड्वल्लभः स रमते किं तत्र ते दूययम् ।

पश्यान्व प्रियसंगमाय दयितस्याकृष्यमाणां गुणैः

उत्कंडार्तिभरादिव स्फुटदिदं चेताः स्वयं यास्यति ॥

तुल्य भर के विलंब में भी जो चित्त उत्कंडार्ति के बोझ से फट पड़ता है उसकी सुदूर प्रवास के वियोग की अवस्था कल्पना से भी परे है। इसीलिये कहते हैं कि इस शृणाल-तन्तु को जयदेव ने प्रखर मीध के ताप में न रखकर अच्छा ही किया है—अच्छा ही किया है।



## ३०. सूरदास की राधिका

सूरदास ने राधिका के जिस रूप का चित्रण किया है उसकी तुलना शायद ही किसी अन्य भक्त के चित्रण से की जा सके। चिर-साहचर्य और बाल्य-सख्य की भूमिका के ऊपर प्रतिष्ठित यह राधिका अथवा उपमान स्वयं ही हो। इस प्रेम का कोई पटतर नहीं है। बाल लीला के समय ही एक दिन भी कृष्ण ब्रज की गलियों में खेलते निकल पड़े। उस दिन उन्होंने नीलधन्व-समावृता राधिका को देखा : वे यमुना के तार पर छोटी-छोटी बालिकाओं के साथ खेलने आई थीं। सूरदास के श्याम उन्हें देखते ही रीझ गए, नैन से नैन मिले और ठगोरी पड़ गई—नैन नैन मिलि परी ठगोरी<sup>१</sup> ! संस्कृत के कवि ने एक प्रकार की ठगोरी का वर्णन किया है, जिसमें श्यामसुन्दर को देखते ही राधिका कुछ ऐसी ठगी गई थी कि लाली वर्तन में ही इही मधनै लगी थी और ऊपर श्यामसुन्दर ऐसे भूते कि गाय के भ्रम से बैल को दुहने बैठ गए थे<sup>२</sup>।

१ खेकन हरि निकसे ब्रज खोरी ।

कटि कछनी पीतांबर ओढ़े हाथ लिये औरा चक छोरी ।

मोर मुकुट कुण्डल कदमनि पर हसन दमक दामिनि छवि छोरी ।

गये श्याम रवितनया के तट अंग कसत बंदन की खोरी ।

औचक ही देखी तह राधा नयन विशाख भाख दिये रोरी ।

नीख बसन फरिया कटि पहिरे बेनी सोस रुधिर रुकछोरी ।

सग करिकनी चकि इस आवति दिन थोरी अति छवि तन खोरी

सुरश्याम देखत ही रीझे नैन नैन मिलि परी ठगोरी ॥

२ राधा पुनाहु जगद्व्युत्पत्तिविधा

संयानमाकथयती त्वधिरिष्याम्ने ।

यस्या मुखाम्बुजसमपित्तलोलहृष्टि-

देवोऽपि बोद्धनधिया वृषभ द्रुदोह ॥

यह ठगौरी और तरह की थी। इसमें कहीं भिन्नक या संकोच का लेश भी नहीं था, सो श्याम ने देखा और परिचय पूछा—‘क्यों जी तुम कौन हो, किसकी लड़की हो ? तुम्हें तो ब्रज की गलियों में कभी खेलते नहीं देखा’। राधिका ने उत्तर में कहा, ‘क्यों हम आवैं ब्रज की गलियों में। हम तो आपनी ही पौर पर खेलती रहती हैं, सुना है नंद का दूटा बड़ा चोर है, किसी का दही चुरा लेता है, तो किसी का मक्खन ले भागता है,’ श्याम ने हँसते हुए कहा—‘भला मैं तुम्हारा क्या चुरा लूँगा जो तुम खेलने नहीं आती। तुम तो दही बेचने जाती नहीं। चलो न खे न खे चलें हमारी तुम्हारी जोड़ी अच्छी रहेगी।’ सूरदास के श्याम रसिकशिरोमणि हैं। भोली राधिका बातों में भूल गई। बिचारी को पता नहीं चल सका कि दही से भी बड़ी चीज—उनका हृदय—इस अजीब चोर ने बातों ही बातों हर लिया—

शुभक्त श्याम कौन तू गोरी ।

‘कहाँ रहति काकी है बेटी, देखो नहीं कहूँ ब्रजखोरी’ ।

‘काहें को हम ब्रज तन आवति, खेलत रहति आपनी पौरी’ ।

‘सुनत रहति अकनन नंद दोटा करत रहत माखन दधि चोरी’ ।

‘तुम्हरो कहा खोरि हम लैहूँ, खेलन संग चली मिलि जोरी’ ।

सूरदास प्रभु रसिक शिरोमणि बार्तान सुनइ राधिका गोरी ।

यह प्रथम दर्शन था पर प्रेम की उलझन यहीं शुरू हो गई। राधिका मनही मन उलझ गई उन्हें अब घर अच्छा नहीं लगता, चित्त नये खेल के साथी के लिये व्याकुल हो जाता है। माता से बरानर दोहनी माँगती रहती हैं, उद्देश्य है लरिक में नये साथी से मिलना । अब उन्हें भगवाद् के बिना कहीं अच्छा

१ नागरि मनहि गई अरुकाइ ।

अति धिरइ तन भई व्याकुल घर न नेकु सुहाइ ।

श्यामसुन्दर मदनमोहन मोहिनी सी लाइ ।

चित्त चञ्चल कुँअरि राधा खान पान सुजाइ ।

कबहुँ बिलपति कबहुँ विहँसति सकुचि बहुरि लजाइ ।

नहीं लगता, एक साथ छाया की भाँति लगी रहती है। गुरुजन इस नयन-मन-हारी जोड़ी को देखकर उल्लसित होते हैं। कभी वृषभानु का और कभी नंद का घर इस युगलमूर्ति के पवित्र हास्य से उद्भासित होता रहता है। खरिक में भी राधाकृष्ण, यमुनातट पर भी राधाकृष्ण, ब्रज की गलियों में भी राधा-कृष्ण, जहाँ देखो वहीं राधाकृष्ण—यशोदा ने राधिका को देखा और आनन्दगद्गद होकर पूछ बैठी—

नामु कहा है तेरो प्यारी ।

बैठी कौन महर की है तू कहि सु कौन तेरी महतारी ॥

धन्य कोल जेहि तोको राख्यो धन्य घरी जिहि तू अवतारी ।

धनि पितु मातु धन्य तेरी छवि, निरखति यों हरि की महतारी ॥

राधिका का परिचय पाकर यशोदा माता ने उन्हें अच्छी तरह सँवार दिया<sup>१</sup>, बोली—जा अब श्याम के संग खेल<sup>२</sup>। इस प्रकार बालकाल से ही राधिका और कृष्ण का प्रेम सहज स्वाभाविक रूप में विकसित होता है, तयारि दोनों के मन में एक दूसरे के लिये एक विषम उत्सुकता रात-दिन बनी रहती है।

जननि सौं दोहनी माँगति बेगि है री माइ ।

सूर प्रभु को खरिक भिखिहैं गये मोहि बुझाइ ।

१ जसुमति राधा कुँअरि सँवारति ।

बड़े बार श्रीवन्त सीस के प्रेम सहित लै सौं निरवारति ॥

माँग पारि बेनीहि सँवारति सौंथी सुन्दर भाँति ।

गोरे भाब विदु अँदन सागो इन्दु प्रात रवि कान्ति ।

सारी चीर नई करिया लै अपने हाथ बनाइ ॥

अंचल सौं झुल पौछि अंग सब आपुहि लै पहिराइ ।

तिन आँवरी बतासे मेधा दिये कुँअरि की गोद ।

सूर श्याम राधा तन धितवत जसुमति मन मन सोइ ॥

२ खेली जाइ श्याम संग राधा ।

यह सुनि कुँअरि हरख मन कीन्हों मिद गई अन्तर बाधा ॥

राधिका शुरु से ही तद्गतचित्ता होकर भगवान् से प्रेम करती हैं। वे मन ही मन अपने अन्तर्यामी श्याम से कहते हैं कि तুম साची हो, मैं तुम्हारे सिवा और किसीको नहीं जानती, माँ-बाप तो कुलमर्यादा की ही ध्यान में रखते हैं, वे तुम्हें क्या जानें ?—

राधा विनय करति मनही मन सुनहु श्याम अन्तर के यामी ।

मातुपिता कुल-कानिहि मानत तुमहि न जानत हैं भगवामी !

यह विलास-कलावती की प्रार्थना नहीं है, यह भक्त की कामना है, जो अपने आराध्य के अतिरिक्त और किसीको नहीं मानना चाहता। यह एकान्त प्रेम है, यह प्रेम आकरिमक नहीं है, दीर्घकाल के साहचर्य से उत्पन्न यह प्रेम अपना उपमान आपही है। भवभूति ने राम और सीता के प्रेम में दीर्घ साहचर्यजनित इस गाढ़ता का दर्शन पाया था<sup>१</sup>, सूरदास ने राधिका के प्रेम में उसी प्रेम की पराकाष्ठा देखी थी :

मन मधुकर पद कमल शुभान्यो ।

चित्त चकोर चंदनल अंदक्यो हक टक पल न भुलान्यो ॥

और

श्याम सखि नीके देखे नाही ।

चितवत ही लोचन भरि आए बारबार पछिताही ।

कैसेहु करि हक टक राखति नैकहि में अकुलाही ।

निमिष मनो छवि पर रखवारे ताते अतिहि बराही ।

प्रेम-वैचित्र्य

राधिका के मुख से ही इस प्रेम का इतिहास अवश्यीय है, और कौन उस अजीब मुख को समझ सकता है ? जबसे भगवान् के साथ उनका परिचय

<sup>१</sup> किमपिकिम्पि मंदमंदमासतियोगाद्विरलितकपोलं जलपतोरकमेव ।

अशिशिलपरिरंभव्यापृतैकैकदोषणोरचिदितगतयामा रात्रिरेवं व्यरंसीत् ॥

हुआ है तभी से बे चेरी की भाँति साथ-साथ रही है पर प्रेम की व्यास  
कहाँ मिटी !—

सुनु री सखी, दसा यह मेरी ।

जब तैं मिले श्यामवन सुंदर संगहि किरत भई जनु चेरी ।

नीके दरख देत नहि मोको अंगन प्रति अनंग की टेरी ।

चपला तैं अतिही चंचलता दसन दमक चकचौंध घनेरी ।

चमकत अंग, पीतपट चमकत, चमकति माला मोतिन केरी ।

‘धर’ समुक्ति विधना की करनी अति रस करति सौह मुँह तेरी ॥

यह प्रेम-वैचित्र्य का चरम निदर्शन है। प्रिय के अति निकट रहने पर भी प्रेमोत्कर्ष के कारण प्रेमी को वियोग-कथा की ओर अनुभूति होती है उसे प्रेम-वैचित्र्य कहते हैं। प्रेम का उत्कर्ष ही इसका कारण है। रूप गोस्वामिपाद ने इसके उदाहरण में बताया है कि श्रीकृष्णचंद्र के सामने होते हुए भी तीब्रानुराग बरा वियोग-व्यथा की आशंका से राधिका हतबुद्धि हो गई थी, उन्हें चक्कर आ गया। दाँतों में तिनका दबाते हुए बोलों, हे सखि, मेरे प्रिय को दिखाओ। उन्होंने कुछ ऐसी चेष्टा की कि स्वयं श्रीकृष्ण भी विस्मित हो रहे :—

आभीरेन्द्रमुते स्फुरत्यपि पुरस्तीब्रानुरागोत्थया

विश्लेषवधस्तम्पदा विवशधीरत्यन्तमुद्धर्षिता ।

कान्तं मे सखिदर्शयेति दशनैकदृष्टार्णवश्यांकुरा

शाषा हन्त तथा व्यचेष्टत यथा कृष्णोऽप्यभूद्विस्मितः ॥

परन्तु मेरा विश्वास है कि गोस्वामिपाद को सूरदास के पदों से परिचय होता (सूरदास कुछ परवर्ती हैं) तो ये सूरदास से ही कोई पद उद्धृत करते शायद वे इस पद को उद्धृत करते:—

राधेहि मिलेहु प्रतीति न आषति ।

यदपि नाथ विधुवदन विलोकति दरसन को मुख पावति ।

भरिं भरि लोचन रूप परमनिधि उर में आनि दुरावति ।

विरह-विकल मति दृष्टि दुहुँ दिसि सचि सरषा ज्यों धावति ॥

चितवत् चकित रहति चित अन्तर नैन निमेष न लावति ।  
सपनों आदि कि सत्य ईश मुक्ति वितक बनावति ।  
कबहुँक करति विचारि कौन हों को हरि केहि यह भावति ।  
सूर प्रेम की बात अटपटी मन तरंग उपजावति ।

या फिर इस पद को उद्धृत करते—

यद्यपि राधिका हरि संग ।  
दास भाव कटावहु लोचन करत नाना रंग ।  
हृदय व्याकुल धीर नाही बदन कमल विलास ।  
तृषा में जल जाम सुनि ज्यों अधिक अधिकहि प्यास ।  
रयाम रूप अपार इत उत लोभ पदु विस्तार ।  
'सूर' मिलत न लहत कौज दुहुँनि बल-अधिकार ॥

या फिर और कोई पद उद्धृत कर लेते । सूरसागर में उन्हें उत्तम-से-उत्तम उदाहरण मिल जाते । यह वैचित्र्य अत्यन्त सहज और अत्यन्त सुकुमार है । सचमुच ही नजर्राजकुंवर और राधारानी का यह अपूर्व प्रेम लोकोत्तर ही है । जब युगलमूर्ति का मिलन होता है सारी वनस्थली यकित-सी होकर निर्निमेष भाव से शोभा के इस अपार समुद्र को देखा करती हैं और इस मिलन-संगीत को गाते-गाते सूरदास जैसे रुकना ही नहीं आते ।

### राधा का प्रेमभाव

प्रेम के इस स्वच्छ और मार्जित रूप का चित्रण भारतीय साहित्य में किसी और कवि ने नहीं किया । यह सूरदास की अपनी विशेषता है । वियोग के समय राधिका का जो चित्र सूरदास ने चित्रित किया है वह भी इस प्रेम के योग्य है । वियोग के समय राधिका के मिलन-समय की मुलगा लीलावती, चंचला और हंसोड़ राधिका वियोग के समय मौन, शान्त और गम्भीर हो जाती हैं । उद्धव से अन्यान्य गोपियों काफी बक-भक्त करती हैं । पर राधिक वहाँ जाती भी नहीं । उद्धव ने श्री कृष्ण से उनकी जिस मूर्ति का वर्णन किया है उससे पश्यर भी पिघल सकता है । उन्होंने राधिका की आँखों को निरन्तर बहते देखा था,

कपोल-देश बारि-बारा से आर्द्र था, मुखमण्डल पीत हो गया था, आँखें धँस गई थीं, शरीर कंकाल-शेष रह गया था, वे दरवाजे से आगे न बढ़ सकी थीं। प्रिय के प्रिय धर्म्य ने जब संदेश माँगा तो वे मूर्च्छित होकर गिर पड़ीं। प्रेम का वही रूप जिसने संयोग में कभी विरहाशंका का अनुमान नहीं किया वियोग में इस मूर्ति को धारण कर सकता है। वास्तव में सुरदास की राधिका शुरु से आखिर तक सरल बालिका है। उनके प्रेम में चञ्चुदास की राधा की तरह पद-पद पर सास-ननद का डर भी नहीं है, और विद्यापति की किशोरी राधिका के समान रुदन में हास और हास में रुदन की चातुरी भी नहीं है। इस प्रेम में किसी प्रकार की जटिलता भी नहीं है। घर में, बन में, घाट-पर, कदम्बतले, हिंडोरे पर,—जहाँ कहीं भी इसका प्रकाश हुआ है वहीं पर अपने आप में ही पूर्ण है। मानो वह किसी की अपेक्षा नहीं रखता और न कोई उसकी खबर रखता है। राधिका के इस रूप का परिचय पाने के लिये हमें कुछ और भी पदों को देखना होगा। मैंने अपनी पुस्तक 'सुर-साहित्य' में इस बात की कुछ विस्तृत चर्चा की है। यहाँ व्यासंभव संक्षेप में कह रहा हूँ।

सुरदास जब अपने प्रिय विषय का वर्णन शुरू करते हैं तो मानो अलंकार-शास्त्र हाथ जोड़कर उनके पीछे-पीछे दौड़ा करता है। उपमाओं की बाढ़ आ जाती है, रूपकों की वर्षा होने लगती है। संगीत के प्रवाह में कवि स्वयं बह जाता है। वह अपने को भूल जाता है। काव्य में इस तन्मयता के साथ शास्त्रीय पद्धति का निर्बाह विरल है। पद-पद पर मिलनेवाले अलंकारों को देखकर भी कोई अनुमान नहीं कर सकता कि कवि जान-बूझकर अलंकारों का उपयोग कर रहा है। पंजे पर पंजे पड़ते जाइये, केवल उपमाओं और रूपकों की बट्टा, अन्योक्तियों का ठाठ, लक्षणा और व्यञ्जना का चमत्कार,—यहाँ तक कि एक ही चीज दो-दो, चार-चार, दस-दस बार तक दुहराई जा रही है,—फिर भी स्वाभाविक और सहज प्रभाव कहीं भी आहत नहीं हुआ। जिसने सुरसागर नहीं पढ़ा उसे यह बात सुनकर कुछ अजीब-सी लगेगी, शायद वह विश्वास ही न कर सके, पर बात सही है। काव्यगुणों की इस विशाल वनस्थली में एक अपना सहज

सौंदर्य है। वह उस रमणीय उद्यान के समान नहीं जिसका सौंदर्य पद-पद पर माली के कृतित्व की सादृश्या दिखाया करता है बल्कि उस अकृत्रिम वन-भूमि की भाँति है जिसका रचयिता रचना में ही धुल-मिल गया है।

राधा और कृष्ण के इस मिलन-मुख के भीतर अचानक दुःख का दर्शन हुआ। कंस के दूत आकर एकाएक किती भयानक धूमकेतु की भाँति उड़ित हुए, विना पूर्णिमा के ही चंद्रमा पर ग्रहण लग गया—“विनु परबहि उपराग आशु हरि, तुम है चलन कसो!” जिसने जहाँ सुना वह वहीं व्याकुल हो रहा। ब्रज के युवतियों की तो मत पूछिए। वे चित्र-लिखित-सी हो रही, जो जहाँ थी, वहीं उसकी पलकों में टक लग गई, हृदय-व्यापार-रुद्ध हो रही, सभी शतब्ध, सभी हतचेतन। सूरदास ने राधिका की दशा की छोर इशारा भर कर दिया है वे जानते थे कि ब्रज लाहिजी के चित्त पर इस आकस्मिक उत्काषात का जो फल हुआ था वह वर्णन के अतीत है। सूरसागर में इस प्रसंग में जितने पद आए हैं वे विवश व्याकुलता के निदर्शक हैं। भगवान् जा रहे हैं, उन्हें रोक सकना असंभव है, और फिर भी उनके बिना जीवन का भार हो जाना निश्चित है। विवश राधिका भीतर ही भीतर कट के रह जाती है, उनका हृदय इतना गंभीर है कि वे अपना विरह पीकर रह जाती है, उसे भगवान् के निकट प्रकट नहीं होने देती। भगवान् सबको दलाते-कल्याते जब चलने को तैयार हो ही जाते हैं तब भी राधिका कर्म की दोष देकर भीतर ही भीतर मनोस कर रह जाती है—

चलत हरि धृग जु रहे ए मान।

कहाँ वह मुख अब सहँ दुसह दुल डर करि कुलिस समान।

कहाँ वह कंठ श्याम सुंदर भुज, करति अचर रसपान।

अचबत नयन-चकोर सुधा बिधु देखेहु मुख छवि आन।

जाको जग उपहास किमो तब छाँड़्यो सन अभिमान।

‘सूर’ मुनिधि हम तैं है निरुरत कठिन है करम-निदान।

श्याम का रय चल पड़ता है—‘सखी सी, वह देखो रथ जात’! हाय हाय, राधिका की उन विवश आँखों की कल्पना भी कितनी हृदय-वेधक है।



उनकी आँखें पीछे ही लौट आना चाहती हैं, प्राणेश्वर के रथ के साथ आगे बढ़ना नहीं चाहती। उनका मन तो उस माधुरी मूर्ति के साथ चला गया, शरीर ब्रज में लौटकर क्या करेगा भला ! कहीं राधिका हवा हो सकती और रथ की पताका को आसमान में उड़ा सकती ! काश, वे धूज हो जाती और चरणों में लिपट जाती ! पर हाय, यह सब कहाँ हो सका ! वह रूप और माधुर्य की पुत्तलिका ब्रजवाला मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ी :—

पाछेही चितवत मेरो लोचन आगे परत न पाँइ ।  
मन लै चली माधुरी मूर्ति कहा करौ ब्रज जाइ  
पवन न भई पताका अंतर रथ के भई न अंग,  
धूरि न भई खरन लपटाती जाती तँह लो संग ।  
ठाढ़ी कहा करौ मेरी सजनी जेहि बिधि मिलहि गोपाल ।  
सूरदास प्रभु पठै मधुपुरी सुसकि परी ब्रजवाल ।

अब पछुतावा हो रहा है। जब मोहन चलने लगे तो फेंक क्यों नहीं पकड़ ली। राधिका तो लाज से गड़ी जाती थीं पर क्या यशोदा माता को इतना भी नहीं करना था। उनके बिना राधिका का यह वियोग विधुरा शरीर तो कीड़ी के मोल का भी न रहा। लाजवश उस समय जो निश्चयता आ गई यह आज हृदय को बेचे डालती है—

तब न विचारी री यह बात ।  
चलत न फेंक गही मोहन की अब ठाढ़ी पछितात ।  
निरखि निरखि मुख रही मौन है यकित भई पलपात ।  
जब रघ भयो अहण्ट अगोचर लोचन अति अकुलात  
सबै अजान भई वही आवसर बिगहि जसोमति मात  
सूरदास स्वामी के बिछुरे कीड़ी भरि न विकात !

तथा,

अब वे बातें इहाँ रहीं।

मोहन मुख मुसकाइ चलत कछु काहू नाहि कही

सखि मुलाज बस समुक्ति परसपर सनमुख सबै सही ।

श्रव वै सालति है उर महियाँ कैसेहु कदति नहीं ।

प्रथम विछोह की यह व्याकुलता अपार है। रात तारे गिनते-गिनते कट जाती है, पापी हृदय वज्र से भी कठोर होकर उस दारुण निरह की मार को सहना करता है, मृत्यु और जीवन की रस्वाकशी का वह दृश्य, बड़ा ही मर्म-वेधक है<sup>१</sup>। श्याम को भूलना भी कठिन है। चण्डीदास ने ठीक ही कहा है कि श्याम की प्राप्ति की यह स्मृति भी दारुण है और भूलने से भी प्राण फटने लगता है। वह शंख बणिक के उस करात (आरी) की भाँति है जो आते भी काटता है जाते भी काटता है—

श्यामेर पिरीति स्मिरिति बिधम, भुलिते परान काटे—

शाँख-बणिकेर करात येमति आसिते जाइते काटे ।

बहुत दिन होग ए, 'बिनु गोपाल वैरिनि भई कुजै !' भगवान् ने एक पाती

<sup>१</sup> उदाहरणार्थ,

आजु रैन नहीं कीइ परी ।

जगत्त गनस गगन के तारे रसना रटत गोविंद हरी ।

बह चितवनि बह रथ की बैठनि जब आकूर की बाँइ राही ।

चितवति रही ठगी स्त्री डाढ़ी कहि न सकति कहु काम वही ।

इतनै मन व्याकुल भयो सजनी आरज पंधहुँ तैं बिजरी ।

सूरदास प्रभु जहाँ लिखारे कितो दूर मथुरा भगरी ।

और

हरि बिहुरत फाँको न हियो ।

भयो कठोर वज्र तैं भारी रहि कै पायी कहा जियौ ।

घोरि झलाहल सुनि मेरी सजनी औसर तोहि न पियौ ।

मन-सुधि गई सँभारत नाहिन पूर दांव अकूर जियौ ।

कहु न सुहाई गई सुधि सब तैं भवन काज को नेम जियौ ।

निसि दिन रटत सूर के प्रभु बिन सरियो तक न जात जियौ ।

भी नहीं लिखी । राधा ने बड़े यत्न से प्रियतम की मूर्ति बनाई, सजल मेघ के समान शरीर पर विद्युत् की भाँति पीतांबर सजा दिया, रक्तध्वज को उन्नत, कटि को लीला, भुजाओं को विशद, कपोल नासिका नैन केश सभी को यथोचित चित्रित किया—चित्र इतना सुंदर उतरा कि जान पड़ा अथ बोला तब बोला । पर हाय, इसी अम ने सब कुछ माटी कर दिया, सारी तन्मयता भंग कर दी, उस कमनीय मुख के मृदु वचन सुनने के लिये वे आश्रु भाव से व्याकुल हो उठी—

मैं सब लिखि शोभा जु बनाई ।

सजल जलद तन वसन कनक रचि उर बहुदाम सुहाई ।

उन्नत कंध कटि लीन विधम भुज अंग अंग सुलदाई ।

सुभग कपोल नासिका नैन छवि अलक लिखित धृति पाई ।

जानति हीय तलोल लेख करि ऐसेहि दिन विरमाई ।

सूरदास मृदु वचन सुवन लागि अति आश्रु अकुलाई ॥

जयदेव कवि की राधिका ने चित्र नहीं बनाया था केवल ध्यान योग से एक मूर्ति कल्पित की थी । तन्मयता के आवेश में उस ध्यान-मूर्ति को वास्तविक समझ कर हँसती, रोती, विलपती, क्लपती और आनंदित होती रही और पद-पद पर कह उठती—हे माधव मैं तुम्हारे करणों पर पड़ी हूँ, तुम्हारे विमुख होने पर अमृत का निधि यह चंद्रमा भी मेरे शरीर में दाह उत्पन्न करता हैः—

ध्यानलयेन पुरः परिकल्प्य भवन्तमतीवदुरापम् ।

विलपति हसति विषीदति रोदिति चञ्चति मुञ्चति तापम् ।

प्रतिपदमिदमपि निगदति माधव तव चरणे पतिताहम् ।

त्वयि विमुखे मयि सपदि शुशानिधिरपि तनुते तनुदाहम् ।

दोनों कल्पनाओं का पौलिक अंतर लक्ष्य करने योग्य है । सूरदास की राधिका स्वयं नहीं बोलती, चित्र के मुख से ही कुछ सुनने को उत्सुक है, परन्तु जयदेव की राधिका ध्यान-कल्पित मूर्ति के सामने रोती है, हँसती है, विलपती है, क्लपती है । सूरदास की राधिका का वियोग उनको तरल नहीं बना देता । हम आगे चलकर देखेंगे कि वे और भी गंभीर हो जाती हैं, यहाँ तक कि

भगवान् के आने पर भी दौड़कर मिलने नहीं चल देती। भगवान् ने जब छोड़ दिया है तो उन्हें इसीमें प्रसन्नता होगी, नहीं तो त्याग ही क्यों करते ? राधा अपने मुख के लिये ऐसा कार्य कभी नहीं कर सकती जो उनकी प्रसन्नता का परिपंथी हो ! राजा दुष्यन्त ने शकुन्तला का वह चित्र बनाया था जिसमें उसके दोनों नेत्र कानों तक फैले हुए थे, भूलताएँ लीला द्वारा कुञ्चित थीं, अर्धर देश उलझल दसनच्छवि से उद्भासित थे, ओष्ठ प्रदेश पके हुए कर्कन्धूफल के समान पाटल वर्ण के थे, विभ्रमविलास की मनोहारिणी छवि की एक तरल धारा सी भगमया उठी थी, चित्रगत होने पर भी मुख में ऐसी सजीवता थी कि जान पड़ता था अब बोला तब बोला—

दीर्घापांगविसारिनेत्रदुर्गल लीलांचितभूलतं  
दन्तान्तःपरिकीर्णहासकिरणज्योत्स्नाविलिताधरम् ।  
कर्कन्धूगुतिपाटलोष्ठरुचिरं दृष्ट्वास्तदेतन्मुखं ।  
चित्रेऽप्यलपतीव विभ्रमलसःप्रोद्भिन्नकान्तिद्वयम् ॥

कवि कालिदास ने लौकिक प्रेम के भीतर भी स्वर्गीय गीर्भीर्य भर दिया है। उधर कालिदास के यक्ष ने जब अपनी प्रिया का चित्र बनाया था तो उसे प्रणयकुपित अवस्था ही थाद आई थी, वह चित्र के पैरों पड़ने जा रहा था कि उसकी आँखों में आँसू आ गए। क्रूर विधाता से उस हालत में भी उन प्रेमियों का मिलन नहीं सहा गया<sup>१</sup>। पर राधिका ने जो चित्र बनाया था वह सहज भाव का सहज चित्र था, यक्षप्रिया के चित्र को चित्र ही समझता रहा पर राधा ने बैसा नहीं समझा। वे उसे साक्षात् प्रिया समझकर उसकी मृदु वाणी सुनने को अधीर हो गईं।

<sup>१</sup> त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया—  
मात्मानं से चरणपतितं यावद्विच्छासिकवृत्<sup>१</sup> ।  
अक्षैस्ताभन्मुहुरपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे  
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते सगमं नौ विधाता ।

एक पथिक मथुरा जा रहा था। राधिका ने उसे बुलाया पर जब संदेश कहने गई तो 'गदगद कंठ दियो भरि आयो वचन कछो न गयो।' पर कुछ धीरज धारण करके राधिका ने उस पथिक से जो कुछ संदेश भिजवाया वह सूर सागर की राधिका के हृदय का सर्वोत्तम निदर्शन है—

नाथ, अनाथन की सुधि लीजै ।

गोपी गाइ ग्याल गोसुत सब दीन मलीन दिनहिं दिन छीजै ।

नैन सजला धारा बादी अति बूझत ब्रज किन कर गहिं लीजै ।

इतनी विनती सुनहु हमारी बारकहुँ पतिया लिखि दीजै ।

चरन कमल दरसन नव नौका करुनासिधु जगत जस लीजै ।

सूरदास प्रभु आस मिलन की एक बार आवन ब्रज कीजै ।

राधिका की एक ही प्रार्थना है :

बारक जाइवो मिलि माधौ ।

को जानै तन छूटि जाइगो सुल रहै जिय साधौ ।

पहुनेहु नंद यथा के आषहु देखि सेउं पल आधौ ।

मिलेही में विपरीत करे विधि होत दरस को बाधौ

जो सुख शिव सनकादि न पावत सो सुख गोपिन लाधौ

सूरदास राधा विलपति है हरि को रूप अगाधौ ।

उद्धव आए । गोपियों से उनकी जो बात खीत हुई उसमें युग युगान्त का सनातन विरह फूट पड़ा है। गोपियों ने प्रेमातिशाय के कारण क्या-क्या नहीं कहा, विचारे भौंरे की तो दुर्गति ही कर डाली पर एकान्त प्रेम की पावन प्रतिमा राधा ने क्या कहा ? वे उद्धव के पास गई ही नहीं। चलती बार उद्धव राधिका के घर स्वयं गए और प्रियतम के लिये संदेश की प्रार्थना की हाय, राधिका कौन सा संदेशा दें ! जिस गोपल के साथ गुड़ियों के खेल खेले हैं, सठोली से पनघट मुखरित हुए हैं, वे ही आज मथुरा के सम्राट हैं। वे संदेश चाहते हैं, उन्हें नि दूत भेजा है ! जो इतने समीप थे वे आज इतने दूर हो गए हैं। राधिका ने उद्धव को देखा और उनके दोनों विशाल नयन उमंग

चले<sup>१</sup> । वे आगे बढ़कर उद्धव का स्वागत करना चाहती थी पर चरण डलभ गये, यहरा कर गिर पड़ी—

चलत चरन गहि रह गई, गिरि स्वेद-सलिल रस भीनी ।

छूटी बट, भुज फूटी बलया, टूटी लर फटी कंचुक भीनी

और

कंठ वचन न बोलि आवै हृदय परिहसभीन<sup>२</sup>

नैन जलि भरि रोह दीनी असित आपद दीन ।

जिन नयनों की कृपाकोर के लिये किसी दिन नटनागर के नयन प्यासे

<sup>१</sup> उन्मि चले दोड नयन विशाख ।

सुनि सुनि यह सदेश श्यामवन सुमिरि सुम्हारे गुन गोपात ।

आनन वषु उरजनि के अन्तर जलधारा बाही देखिकाल ।

मनुगुण जलज सुमरे अंग लँजाइ मिले सम शशिहि समाल ।

और

सुम्हरे बिरह बजराज, राधिका नैननि नवी बदी ।

खीने जात निमेष कूल होठ परे यान चदी ।

गोजकनाड निमेष न लागत सो पलकनि बर धोरति ।

ऊरध श्वास समीर तरंगनि तेज तिखकतक तोरति ।

कज्जल कीच कुचीछ किये तट अंबर अधर कपोल ।

थकि रहे पथिक भुजस हिसही के हस्तचरण मुख धोल ।

नाहिन और उपाय समापति बिन दूरसन जो कीजै ।

आँसू सज्जल झूहत सब गोकुल 'सूर' सुकर राहिलीजै ।

और

नैन घट घटत न एक घरी ।

कबहुँ न मिटत सदा पावस बज लागी रहत करी ।

सब आहु मिटी एक भई बज सहि चाहे विधि उलटि धरी ।

'सूरदास' प्रभु सुम्हरे बिछुरे मिटि मरणाद दरी ।

रहते थे, प्रथम दर्शन में ही जिन नयनों ने गोपाललाल के नयनों में डगोरी झाल दी थी, उन्हीं नयनों को उद्धव से कैसा देखा ? हाथ, सरसागर में प्रति फलित उस अपार विरह-समुद्र को कौन समझ सकता है ? उद्धव ने क्या देखा ?

नैनन होड़ बदी बरला सो ।

रातिदिवस बरसत भर लाये दिन बूनी करला सो ।

चारि मास बरसे जल खूँटे हारि समुक्ति उनमानी

एतेहु पर धार न खंडित इनकी अकथ कहानी ।

और

देखी मैं लोचन चुअत अचेत ।

मनहुँ कमल शशिआस ईस को मुकुता गनि गनि देत ।

हार लबी इकटक पग जोधति उरघहु श्वास न लेत...इत्यादि ।

राधिका की दशा उद्धव ने बड़ी ही करुण भाषा में बताई थी :—

रहति रैन दिन हरि हरि हरि रट ।

चितवत इकटक मग चकोर लौं जबतें द्रुम बिधुरे नागर नट ।

भरि भरि नैन नीर टारति है सजल करति अति कंसुकी के पट ।

मनहुँ विरह को ज्वर ता लागि लियो नैम मेम शिव शीश सहस घट ।

जैसे यव के अंगु ओस कन मान रहस ऐसे अवधिहि के तट ।

‘सूरदास’ प्रभु मिलौ कृपा करि जे दिन कहे तेउ आए निकट ॥

भक्तों में प्रतिष्ठ है कि सूरदास उद्धव के अवतार थे । यह उनके भक्त और कार्यजीवन की सर्वोत्तम आलोचना है नृहृद्भागवतामृत के अनुसार उद्धव भगवान् के महाशिष्य महाभृत्य महामात्य और महाप्रियतर थे । वे सदा श्रीकृष्ण के साथ रहते थे, शयन के समय, भोजन के समय रासकाज के समय, कभी भी भगवान् का साथ नहीं छोड़ते थे, यहाँ तक कि अन्तः पुर में भी सदा साथ-साथ रहते थे । केवल एकवार उन्होंने भगवान् का साथ छोड़ा था और वह उस समय जब गोपियों का समाचार लेने के लिये भगवान् ने ही उन्हें वृन्दावन भेजा था । कहते हैं, इसवार उन्हें भगवत्संग से दूना आनंद मिला था । उनके तीन काम थे, भगवान् की पद-सेवा, उनके साथ हास-विनोद

और कीड़ा के समय साथ-साथ रहना । पहले कार्य में वे इतने तन्मय रहते थे कि अनोखलोगों को भ्रम हो जाता था कि वे पागल हो गए हैं । सूरदास के जीवन का भी यही परिचय है । केवल एकबार उन्होंने सूरसागर में भगवान् का साथ छोड़ा है, भ्रमर गीत में, और निश्चय ही उन्हें भी वूना आनंद मिला था । इस प्रवाद का साहित्यिक अर्थ बड़ाही अर्थपूर्ण है । उदय के मुख से सूरसागर में जो कुछ कहवाया गया है वह कल्पना-विलास नहीं है, प्रत्यक्ष अनुभव सत्य है । मैं आपको यहाँ फिर एकबार याद दिला दूँ कि किरह के प्रसंग में साथक भक्त अपने आपको ही खोलकर रख देता है ।

परन्तु राधिका का चित्र अब भी अधूरा है । मैं अपने पाठकों को प्रभासक्षेत्र में ले जाना चाहता हूँ । आज बहुत दिनों के बाद आनन्दकंद भगवान् गोपियों और गोपालों की कृतार्थ करने वाले हैं । आज राधिका के भाग्य फिरे हैं— 'अंचल उड़त, मन होत गहगहो, फरकत नैन खये' !, राधिका ने यह शुभ संवाद सुना । उनकी आँखों में आँसू भर आया । श्यामसुन्दर तो आगष्ट पर उनके दर्शन क्या भाग में बड़े हैं ? कौन जाने । उन्होंने इच्छापूर्वक राधिका का त्याग किया है, खुशी होगी तो फिर ग्रहण करेंगे पर राधिका दौड़कर उनके प्रेमको अपमानित नहीं करेंगी पर हाय, मन तो नहीं मानता :—

राधा नैन नीर भरि आये

कब धौ मिलैं श्यामसुन्दर सखि थदवि निकट हैं आये !

भगवान् लायलश्कर के साथ आए हैं, दासवासियों की इतनी बटा बन्नाभूषणों की ऐसी छटा जनवासियों के निकट अत्यन्त अपरिचित है । गुड़ियों के खेल वाले कृष्ण ये नहीं हैं, पनघट की दान लीला वाले कृष्ण ये नहीं हैं, शरत-पूर्णिमा के राखिहारी कृष्ण ये नहीं हैं, ये महाराज हैं । उनकी अभ्यर्चना करने के लिये व्रज की गोपियाँ खड़ी हो गई राधिका भी अपनी मर्मव्यथा के भार से दुबकी हुई एक तरफ खड़ी हो गई । महाराजाधिराज श्रीकृष्ण अपनी पट्टमहिषी के साथ धूमधाम से निकले और गोपियों के सामने आए । महारानी रुक्मिणी से न रहा गया, पूछ बैठें—'प्रिय इनमें को वृषभानु किशोरी ?' जिस राधिका का नाम लिये बिना भगवान् कोई काम ही नहीं कर



सकते—‘जाके गुन गनि गुथति माल कबहुँ उर में नहि छोरी’—उस वृषभानु लाली को देखने की उत्सुकता रुक्मिणी संभाल नहीं सकी, बोली—‘नेकु हमें दिखावहु अपने बालापन की ओरी ?’ भगवान् ने रुक्मिणी को दिखाया—‘वह देखो लुपतिन में ठाढ़ी नील बसन तन गोरी ।’

अन्त में भगवान् राधा को मिले । राधिका उस विशाल ऐश्वर्य को देखकर रुझाव हो गई—‘सूर’ देखि वा प्रभुता उनकी कहि नाहि आवे बात ।’ श्रीकृष्ण ने समझा, रुक्मिणी ने भी समझा । वे उन्हें अपने घर लीवा गई और बहन की तरह बगल में बैठ गई तब जाकर ‘सूरदास—प्रभु तहाँ पधारे जहाँ दोऊ ठकुरानी ।’ और फिर

राधा माधव भेंट भई ।

राधा माधव माधव राधा कीट भृंग गति है शु गई ।

माधव राधा के रंग राते राधा माधव रंग रही ।

माधव राधा प्रीति निरन्तर रसना कहि न गई ।

परन्तु बरसाने की उस सुखर वाला के मुँह से एक बात नहीं निकली । आनन्द का यह गंभीर समुद्र किचिन्मात्र चंचल नहीं हुआ, भगवान् के चले जाने पर ठिक् पछता के रह गई—

करत कछु नाहीं आज बनी ।

हरि आवे हौ रही ठगी-सी कैसे चिचवनी ।

आसन हरषि हृदय नहि दोनो कमलकुटी अपनी ।

न्यवछावर उर अरध न अंचल जलधारा जु बनी ।

कचुकी तैं कुच-कलश प्रकट है दूटि न तरक तनी ।

अब उपजी अतिलाज मनहि मन समुझत निज करनी ।

सूरसागर की यही विरहविधुरा राधिका है । इस राधिका के आत्म-समर्पण में एक ऐसा गंभीर्य है जो अन्यत्र दुर्लभ है । वे भगवान् को अपना सर्वस्व दे देंगी वशतें कि भगवान् चाहें । श्रीकृष्ण को पाना उनका लक्ष्य नहीं है, श्रीकृष्ण का तृप्त होना ही लक्ष्य है । हृदयधन को क्षण भर के लिये भी

खेल लेने की व्याकुलता से उनका हृदय टूक-टूक हो जाता है तथापि वे यह नहीं कहती कि भीकृष्ण उनके साथ वही पुरानी केलि आरंभ करें। राधिका का शरीर मन प्राण केवल एक ही उपादान से गठित है—उनकी वृत्ति रह-रह कर मन में प्रश्न उठता है कि क्या महाकाव्य के भीतर से इससे अधिक सुन्दर प्रेममूर्ति की रचना हो सकती थी और क्या नाना भौतिक के पहाड़ों, नदियों, दुःख-सुखों, कर्तव्य-अकर्तव्य के ब्याधानों के भीतर घसीटने से राधिका का राधिकात्व ही नहीं नष्ट हो जाता ? क्यों लोग व्यर्थ ही अफ़सोस किया करते हैं कि सूरदास ने महाकाव्य न लिखकर.....! इत्यादि ।

---

## ३१. दसवीं शताब्दी से समाज में विभेद सृष्टि का आरंभ

भक्ति साधनाओं की चर्चा करते-करते हम कुछ दूर तक चले आए। धार्मिक साधनाओं की ठीक-ठीक जानकारी के लिये उस काल की सामाजिक पृष्ठभूमि की जानकारी आवश्यक है। हमने पहले भी लक्ष्य किया है कि इस देश में नाना ऐतिहासिक कारणों से छूत-छात और बहिर्बिवाह का वर्जन बना हुआ था। परन्तु दसवीं शताब्दी के आरंभ से इस भेद-विभेद ने बहुत ही कठोर रूप धारण किया। जब तक हमें कठोर रूप का ठीक-ठीक परिचय नहीं मिलेगा तब तक यह समझना कठिन ही होगा कि क्यों हजारों साधु-धर्मप्रदाय मध्यकाल में बन गए; वैराग्य का ऐसा विकृत रूप क्यों हुआ, वस्तुतः जाति-पौति का शिर्कजा इतना कठोर था कि उससे बचने का एक ही उपाय रह गया था—साधु हो जाना। अन्त तक यह उपाय भी बहुत सफल नहीं सिद्ध हुआ। सो, विविध सम्प्रदायों के संघटित होने में जाति-प्रथा की कठोरता का मामूली हाथ नहीं था। यह विविध बात है कि जिस समय भारतवर्ष में जाति-पौति को तोड़ने वाली संस्कृत ने प्रबल प्रताप के साथ आक्रमण करना शुरू किया और अन्त तक इस देश में अपना शासन स्थापित करने में सफलता पाई उसी समय जाति-पौति का कथन और भी कठोर हो गया। इस विरोधाभास का कारण क्या है। तात्कालीन ऐतिहासिक परिस्थिति के सिद्धान्तोक्त से ही उसका कुछ कारण समझ में आ सकता है।

गुप्तों के बाद ५५० ई० में कान्यकुब्ज में मौखरी शक्तिशाली राजा हुए। बाद में श्रीहर्ष का बहुत ही सुसंगठित प्रभावशाली राज्य यहाँ स्थापित हुआ। उसके सेनापति भंडि और उसके वंशजों ने भी इस भूभाग पर शासन किया पर नवीं शताब्दी के प्रारंभ में उनकी शक्ति क्षीण हो गई। इन तीन शताब्दियों में कान्यकुब्ज सब प्रकार से समृद्ध और शक्तिशाली राज्य था। जब नवीं शताब्दी में इसके शासक भंडि एकदम अशक्त हो गए तो भी

राजलक्ष्मी कन्नौज छोड़ने को तैयार नहीं थी। उस समय बंगाल में पालों का राज्य था जो पहले कई बार इस राजलक्ष्मी को अपनी गृहलक्ष्मी रूप में प्राप्त करने का प्रयत्न कर चुके थे। दक्षिण में राष्ट्रकूटों का शक्तिशाली राज्य था जिसका उदय आठवीं शताब्दी के मध्यभाग में हुआ था और लगभग सत्तर दो सौ वर्षों तक उन्होंने प्रबल प्रताप के साथ शासन किया था। कभी-कभी उनकी तलवार गंगा-यमुना के द्वाबे में भी झनझना उठती थी और कान्यकुब्ज राजलक्ष्मी को वरण करने के लिये तो इन लोगों ने भी कुछ उठा नहीं रखा। उधर पश्चिम भारत के प्रतीहार भी बहुत शक्तिशाली थे और उन्होंने भी कान्यकुब्ज को हथियाना चाहा था। इस प्रकार नवीं शताब्दी में कान्यकुब्ज की राजलक्ष्मी काफी खोचतान में पड़ी थी। सन् ८१२ ई० में प्रतीहार नागभट्ट ने कान्यकुब्ज पर अधिकार किया और उसी समय से कान्यकुब्ज की राजलक्ष्मी प्रतीहारों की हो रही। नवीं से ग्यारहवीं शताब्दी तक भारत की तीन प्रधान राजशक्तियाँ थीं। कान्यकुब्ज के प्रतीहार, गौड़ के पाल और मान्यखेड के राष्ट्रकूट। इनमें परस्पर प्रतिस्पर्द्धा थी। उधर उत्तर-पश्चिम सीमान्त से मुघलामानों का आक्रमण शुरू हो गया था। सिंध में उनकी जड़ भी जम चुकी थी।

सन् १०१८ ई० में प्रतीहार राजा राज्यपाल महमूद से पराजित हुआ और उसकी अधीनता भी स्वीकार कर ली। ज्ञान पड़ता है कि राजपूत राजाओं ने उसके इस आचरण को पसन्द नहीं किया और कई अधीनस्थ राजाओं ने मिलकर उसे भार डाला और उसके पुत्र को गद्दी पर बैठा दिया। परन्तु प्रतीहारों का सूर्य अस्त हो गया। केन्द्रीय शक्ति के दुर्बल हो जाने के कारण कलिंजर के चन्देल, त्रिपुर या तेषार के कलचुरि और सांभर के चौहान स्वतंत्र हो गए। इसके बाद का काल राजपूत राजाओं के परस्पर विवाद और एक-एक करके मिटने का काल है। ये राजे परस्पर भी झूझते रहे और मुस्लिम आक्रमण से भी लोहा लेते रहे।

त्रिपुरी के कलचुरियों में कर्ण नाम का अत्यन्त प्रतापशाली राजा हुआ जो संभवतः सन् १०३८ से १०८० ईस्वी तक राज्य करता रहा। उसने

दक्षिण में चोल-गण्ड्यों तक को जीत लिया और उत्तर में उसकी विजय बबुर काशी, कोशल और चम्पारन तक कहराई। शिपुर का ही अपभ्रंश रूप तैवार है। राजा कर्ण के साथ शाहिजद्वय-गोत्रीय 'तेवारी' ब्राह्मण आए जो सरयू पार में श्राव भी श्रेष्ठ ब्राह्मण माने जाते हैं। इन ब्राह्मणों की अनुश्रुतियों से ज्ञान पड़ता है कि ये भी मूलतः कान्यकुब्ज ब्राह्मण ही हैं। राजा कर्ण ने सरयू पार में ब्राह्मणों को बहुत भूमिदान भी थी। उसके कुछ दानपत्र गोरखपुर जिले में पाए गए हैं। कर्ण का राज्य इस इलाके में ज्यादा दिन नहीं टिक सका और ऐसा जान पड़ता है कि उसने जिन ब्राह्मणों को दान देकर इधर बसाया था वे आगे चलकर राज्याभय नहीं पा सके। ऐसा जान पड़ता है कि गोक राजाओं के अभ्युदय के बाद इनमें से कुछ घर फिर अपने पुराने निवासस्थान की ओर लौट गए।

सन् १०८० में कान्यकुब्ज और काशी तथा कर्ण के जीते हुए आस-पास के प्रदेशों पर गाहड़वार वंशी राजा चंद्र का अधिकार हो गया। यह बहुत प्रतापशाली राजा था। महमूद के आक्रमण और राज्यपाल के पतन के बाद दिल्ली से लेकर बिहार तक के उस प्रदेश में, जिसको भाषा आज हिंदी है, घोर अराजकता फैल गई थी। गाहड़वाल वंश के शिजातेला में गर्व-पूर्वक स्मरण किया गया है कि श्री चन्द्रदेव ने अपने उदारतर प्रताप से प्रजा के अशेष उपद्रव का शमन कर दिया था—येनोदारता प्रताप शमिताशेष-प्रजोपद्रव—तो, इस वंश के राजाओं को प्रजा ने बड़े प्रेम से तिर-माये लिया। इस प्रकार कन्नौज, काशी और अवध तथा बिहार का कुछ हिस्सा गाहड़वार राजाओं के हाथ लगभग दो सौ वर्षों तक रहा। इस वंश के सबसे प्रतापशाली राजा गोविन्द चन्द्र (१११४-१११५) थे। एक तरफ तो इन्होंने दुर्दान्त गौड़ राजाओं से लोहा लेना पड़ता था जो मौफा पाते ही कान्यकुब्ज को हड़प लेने को तत्पर रहते थे। इनके पास हाथियों की प्रचण्ड सेना थी दूसरी ओर महमूद के सेनापतियों से निरन्तर टक्कर लेना पड़ता था। गोविन्द चंद्र के थोड़ों की टाप पंजाब के किनारे से लेकर बंगाल की पश्चिमी सीमा तक निरन्तर सुनाई पड़ती थी। अपनी प्रशस्तियों में उसने अपने को उस भूमि का

अधिकारी घोषित किया है जो उनके निरन्तर दौड़ते रहने वाले घोड़ों के टाप की मुद्रा से मुद्रित थी ?<sup>१</sup> लगभग आधी शताब्दी तक इस प्रबल-पराक्रान्त राजा के शासन में उस एकता का सूत्रपात हुआ जिसका आज भी हिंदी भाषी जनता उपभोग कर रही है। गोविंदचंद्र के काल में कान्यकुब्ज गौरव फिर से प्रतिष्ठित हुआ। इस राजा ने दक्षिण से बुलाकर बहुत से ब्राह्मणों को भूमि दान दिया था। विक्रमादित्य की भांति गोविंद चंद्र भी संस्कृत के पक्षपाती थे। यद्यपि वे अपने को परम माहेश्वर कहते हैं तथापि उन्होंने विष्णु मंदिर भी बनवाए और विष्णु के ये भक्त भी थे परन्तु इस राजा के काल में प्रोत्साहन बराबर संस्कृत भाषा को और ब्राह्मण धर्म को मिलता रहा जिस प्रकार गौड़ के पाल राजा और गुजरात के सोलंकी देशभाषा तथा मालवा के परमार देशभाषा को प्रोत्साहन दे रहे थे उस प्रकार का कोई प्रोत्साहन इस दरबार से नहीं मिल रहा था।

अब तक दसवीं शताब्दी तक के जितने दानपत्र प्राप्त हुए हैं उनमें ब्राह्मणों के केवल गोत्र और शाखाओं की ही चर्चा है। ऊपर बताया गया है कि कलचुरि राजा कर्ण ने कुछ दिनों के लिये काशी, सरयूपार और उसरी विहार के चम्पारण्य भूभाग पर राज्य किया था। सन् १०७७ ई० का एक कलचुरि दानपत्र गोरखपुर जिले के काहल नामक ग्राम में प्राप्त हुआ है जिसमें प्रथम बार ब्राह्मणों के गोत्र-प्रवर के साथ गांव के नाम का भी उल्लेख है। यहाँ प्रवेश का नाम नहीं मिलता, संभवतः यह बिना निर्देश के भी समझ लिया जाता था उन दिनों केवल गांव का नाम मिलता है, सरयूपारी ब्राह्मणों में आज भी गांव के नाम से परिचय देने की प्रथा है जो संभवतः त्रिपुर या

<sup>१</sup> दुर्गरूपारगौड़द्विद्वरघटाकुंभनिर्वेदभीमो

हम्मीरं म्यस्तचैरमुदुरिह समरक्रीडया यो विधत्ते ।

शश्वत्संधारि वलगततुरंगसुरपुटोल्लेखमुद्रासनाथ ।

सोयीस्वीकारदुःखः सह्य विजयते प्रार्थनाकारपट्टः ।

—११०६ ई० का दानपत्र (एपिग्राफिका इंडिया जिल्द १ नं १२)

तेवार के स्मृति रूप में जी रही है। संवत् ११६६ अर्थात् सन् ११०६ ई० के गोविन्दचंद्र वाले दान पत्र में भी गुणचंद्र को भट्ट ब्राह्मण गान्गू का पौत्र, रिल्हे का पुत्र और भट्ट कवड ग्राम का निवासी बताया गया है। बाद में यह प्रथा खूब तेज़ी से चल पड़ी। इसके बाद की प्रशस्तियों में देश का नाम भी जुड़ा मिलता है। गुजरात के कुमारपाल की प्रशस्ति (सन् ११५१) में 'नागर' ब्राह्मण का उल्लेख है। गाढ़ब वालों के दानपत्रों में टक्कुर और राउत ब्राह्मणों की चर्चा मिलती है। 'राउत' शब्द से ध्वनि निकलती है कि ये ब्राह्मण कभी 'राजपुत्र' का सम्मान पाने वाले थे। महमूद के आक्रमण के पहले गजनी और काश्मीर में ब्राह्मणों के राज्य थे और पंजाब में ब्राह्मण राजा थे। संभवतः ऐसे ही किसी राजवंश के ब्राह्मण 'राउत' कहे जाते होंगे। जो हो, ये उपाधियाँ प्रदेश वाचक नहीं कही जा सकती यद्यपि इनमें भी पुराने गोरख की स्मृति बचाने का प्रयत्न है जो विभेद का एक कारण बना रहा है। इस काल के बाद गोत्र और प्रवर का स्थान गौण हो जाता है और प्रदेश-वाची विशेषण प्रधान हो जाता है। सन् १२२६ के एक परमार दान पत्र में पंडित, दीक्षित, द्विवेदी, चतुर्वेदी आवरियक आदि उपाधियुक्त नाम मिलने लगते हैं (E. 9. 1X, P. 108, 121) और सन् ११७७ ई० के जयचंद्र के दान पत्र में प्रथम बार ब्राह्मणों के नाम के आगे (E. 9. 1V P. 129) सम्मान सूचक 'पंडित' शब्द का व्यवहार पाया जाता है। कई जगह केवल उसका संक्षिप्त रूप पं० मिलता है जो आज भी हिंदी भाषी क्षेत्रों में प्रचलित है।

इसी समय से ब्राह्मणों के अनेक जातिवाचक विशेषणों का प्रयोग मिलने लगता है। जहाँ पहले गोत्र और प्रवर ही ध्यावर्तक समझे जाते थे वहाँ अब देशवाचक अध्ययन-सूचक, ग्राम निर्देशक और सम्मान सूचक विशेषणों की चर्चा आने लगती है। परवर्ती काल में दुबे, चौबे, मिश्र, सुकुल, उपाध्याय, नागर, गौड़ आदि विशेषणों में इन्हीं विभिन्न अर्थ के विशेषणों का प्रयोग है। ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी के दानपत्रों में इन विशेषण का प्रयोग पहले बहुत थोड़ी मात्रा में मिलता है, बाद में अनिवार्य

रूप में आने लगता है। ऊपर ज्यर्चंद्र देव के जिस दान पत्र की चर्चा की गई है उसमें एक ब्राह्मण के नाम के साथ 'द्विवेद' उपाधि है। एपिग्राफिका इंडिका की १२ वीं जिल्द (पृ० १५३) में छुपे एक दानपत्र में एक उपाधि 'कर्णाद द्विवेद ठक्कुर' है जो प्रदेश विद्या और पूर्ववर्ती अधिकार तीनों की सूचना देता है।

इस प्रकार इस काल में पढ़े लिखे ब्राह्मणों का प्रयत्न यह था कि वे अपनी पूर्ववर्ती भूमि की स्मृति बनाए रखें और अपने इर्द-गिर्द की जनता से अपने को विशेष समझते रहें। यही हाल उन क्षत्रिय राजाओं का भी था जो बाहर से आकर नया राज्य अधिकार कर लेने के बाद स्थानीय लोगों से अपने को भिन्न और श्रेष्ठ मानते थे। उत्तरी भारत पर निरन्तर विदेशी जातियों के हमले होते रहे और राजलक्ष्मी ने पुराने क्षत्रियों का साथ कई बार छोड़ दिया था वे क्षत्रिय कृषि और कारवार में लग गए थे। आजकल के उत्तर प्रदेश मध्य प्रदेश और बिहार में बसने वाले अधिकांश बनिया जातियाँ इन्हीं हारे हुए क्षत्रियों की वंशज हैं। इन कृषिजीवी और दुग्धाली जातियों से अपनी भिन्नता बताने के लिये ही 'राजपुत्र' या 'राजपूत' विशेषण का उद्भव हुआ। इस प्रकार संयोगवश काशी कान्यकुब्ज की शासक जाति भी अपने को जनता से भिन्न और श्रेष्ठ समझती थी और विद्वान् ब्राह्मण भी अपने को जनता से भिन्न और श्रेष्ठ समझते थे। परिणाम यह हुआ कि नवीं शताब्दी के प्रतीहार राजाओं से आरंभ करके १२ वीं शताब्दी तक शासन करने वाले गौड़बहार राजाओं तक ने लोक-भाषा और लोक-जीवन की उपेक्षा की। संस्कृत को इस दरबार में पर्याप्त मान मिला और इस काल में काशी भारतवर्ष की सांस्कृतिक राजधानी बनी रही। यहाँ के पंडितों को लिखे निर्बंधग्रंथ भारतवर्ष के दूसरे प्रदेशों के अधिवासियों के लिये मार्गदर्शक होते रहे। गौड़बहार राजा यद्यपि अपने को 'माहेश्वर' कहते हैं पर वे उतने ही 'वैष्णव' भी थे। वे लक्ष्मी के उपासक थे। उनकी प्रशस्तियों के आरंभ ने लक्ष्मी की स्तुति हुआ करती है। यह स्तुति घोर शृंगारी भाषा में है जो उस काल की भक्ति के स्वरूप की सूचना



देती है ।<sup>१</sup> वस्तुतः ये लोग स्मार्त थे । इनके काल से काशी स्मार्तों का केन्द्र बनी और 'माहेश्वर' पुरी भी बनी रही । इस प्रदेश के ब्राह्मणों की प्रतिभा का उत्तम रूप हमें संस्कृत-साहित्य में मिल जाता है पर देश की साधारण जनता की बोलचाल की भाषा में क्या लिखा जा रहा था इसका कोई परिचय नहीं मिलता । इस प्रदेश के बाहर के छिटके फुटके प्राप्त साहित्य के आधार पर ही कुछ अनुमान किया जा सकता है ।

महमूद ने कई बार आक्रमण करके उत्तरी भारत को आतंकित कर दिया था इसलिये धर्मभीरु ब्राह्मण परिवार उत्तर भारत को छोड़कर ऐसे स्थानों में जाने का प्रयत्न करने लगे जहाँ उन्हें संरक्षण प्राप्त हो सके और वैदिक यज्ञ-याग की क्रिया निर्विघ्न चलती रहे । राज्यपाल के पराजय के बाद अन्तर्बेद में अराजकता फैल गई थी । इस क्षेत्र के ब्राह्मण सदा से उत्तम और पवित्र माने जाते थे , बंगाल के सामन्त या वल्लास सेन ने जिसका राज्यकाल संभवतः ११ वीं शताब्दी के अन्त में और बारहवीं के आरंभ में कान्धकुब्ज ब्राह्मणों को अपने देश में बसाया, उड़ीसा के केसरी राजाओं ने भी कान्धकुब्ज ब्राह्मणों को अपने राज्य में बसाया । इसी प्रकार गुजरात के राजा मूलराज और दक्षिण के चोल राजाओं के बारे में भी प्रसिद्धि है कि उन्होंने उत्तर के ब्राह्मणों को बुलवाया था । कुछ ब्राह्मण अपनी इच्छा से दूर-दूर जाकर बसे । इस प्रकार इस काल में एक ओर जहाँ देश की राजशक्ति खण्ड-विच्छिन्न होने लगी वहाँ वैशाध्यायी और संस्कृत विद्या के सरलक ब्राह्मणों का भी नाना स्थानों में विभाजन होने लगा । नये प्रदेशों में बसे ब्राह्मण अपने को उस स्थान के लोगों से भिन्न समझने लगे और अपने मूल निवासस्थान की स्मृति बनाए रखने के लिये अपने नामों के साथ अपने प्रदेश के नामों का भी उल्लेख करने लगे । राज्यों के उलट फेर के साथ इन ब्राह्मणों का स्थान

<sup>१</sup> ओम् परमात्मने नमः ॥

अकृप्योत्कण्ठवैकुण्ठकण्ठीवल्लभकरः ।

संरंभः सुरतारंभे स क्रियः श्रेयसेऽस्तु वः ॥

बदलना पड़ता था इसलिये वे और भी हड़ता के साथ अपने मूलवास स्थानों की स्मृति अपने नाम से जोड़े रहना चाहते थे। दक्षिण उन दिनों अपेक्षाकृत अधिक सुरक्षित स्थान था इसलिये उत्तर के अनेक ब्राह्मण परिवार दक्षिण की ओर चले गए और उधर ही रहने लगे। अवस्था परिवर्तन के साथ-साथ इनमें से कुछ फिर उत्तर की ओर आ गए। इनके साथ अपना भेद बताने के लिये उत्तर के पुराने ब्राह्मणों ने और भी नये विशेषण जोड़े। इस प्रकार ब्राह्मणों की अनेक उपजातियाँ और भेदोपभेद बनते गए। क्षत्रिय शक्ति भी निरन्तर विभाजित हो रही थी और इन उच्च वर्गों के इस प्रकार भेदोपभेद-जनित सावधानी का असर निचली श्रेणियों पर भी पड़ रहा था। इस प्रकार दसवीं शताब्दी के बाद जाति-पाति की व्यवस्था तेज़ी से हड़तर होती गई और निरन्तर भेद-विच्छेद की ओर देश को टूटकेलती चली गई, इस प्रकार यह एक विचित्र सी बात है कि जाति-पाति को तोड़नेवाली संस्कृति के आक्रमण ने इस देश के समाज में जाति पाति का भेद भाव और भी अधिक बढ़ा दिया।

---

## ३२. शैव-साधना के पीछे काम करनेवाली राजशक्तियाँ

दसवीं शताब्दी के अन्त तक दक्षिण में जैन धर्म बहुत प्रभावशाली था। पाण्ड्य और चोल राजाओं ने जैन गुरुओं, मन्दिरों और विहारों को दान दिया था। मैसूर के गंग भी जैन धर्म के अनुयायी थे। जैन पंडितों की विद्वत्ता और तपस्या ने उन दिनों के दक्षिणी राजाओं को आकृष्ट किया था। लेकिन आठवीं शताब्दी के बाद से ही जैनो का प्रभाव घटने लगा। कहते हैं कि सवन्दर नामक शैव साधु ने पाण्ड्य राजाओं के राज से जैन धर्म को उखाड़ दिया और एक दूसरे साधु अप्पर ने पहलव राजाओं के राज्य से भी जैन धर्म की महिमा कम कर दी। यह आठवीं शताब्दी की बात है। दसवीं शताब्दी के चोल राजा केवल कहकर शैव ही नहीं हो गए, उन्होंने जैनो पर अत्याचार भी किया। यह विश्वास किया जाता है कि चोलों ने जैनो के धर्मन के लिये अपनी राजनीतिक शक्ति का उपयोग भी किया। आठवीं शताब्दी के अन्त से दसवीं शताब्दी के अन्त तक दक्षिण के राष्ट्र कूट जैन धर्म के प्रेमी रहे। और उनके प्रयत्न से जैन धर्म का बहुत अधिक प्रचार हुआ। मैसूर के गंग राजा तो जैन थे ही। राष्ट्रकूटों का अन्तिम राजा अतुर्य इन्द्र सुप्रसिद्ध महाराजा कर्ण का पुत्र था और उसका माता गंग वंश की राज कुमारी थी। इसीलिये इन्द्र बहुत ही धर्म प्रवण राजा हुआ जब चालुक्यों ने राष्ट्रकूटों पर विजय प्राप्त की तो इन्द्र ने सल्लेखन व्रत के द्वारा अपने जीवन का अन्त कर दिया। इस प्रकार दक्षिणी महाराष्ट्र में दसवीं शताब्दी के अन्त तक जैन धर्म फलता-फूलता रहा। परन्तु पच्छिमी चालुक्य कहर शैव थे और उन्होने जैन प्रभाव को धो-धोखे देने का प्रयत्न किया। कलचुरियों ने चालुक्यों को परास्त किया और सम्भवतः इस झगड़े के मूल में जैन धर्म का धमन ही प्रधान कारण था, क्योंकि कलचुर सरदार विजयन कलचुरि स्वयं जैन था। अनुमान किया जा सकता है कि कलचुरियों ने इस क्षेत्र में जैन धर्म को फिर से प्रतिष्ठित करना

चाहा होगा। यह सन् ११५६ ई० की बात है। परन्तु उनका राज्य स्थायी नहीं हुआ और शैव धर्म लिगायत रूप में फिर से इस क्षेत्र में प्रतिष्ठित हो गया।

कर्नाटक में बहुत दिनों से गंग वंश का राज्य चल रहा था सन् १००४ ईस्वी में तेंजोर क चोलों ने इनसे राज्य छोन लिया जैता कि पहले ही बताया गया है कि गंग जैन थे किन्तु चोल इस काल में कट्टर शैव हो गए थे। अगर चोलों का राज्य स्थायी हो गया होता, तो सम्भवतः इस क्षेत्र से भी जैन धर्म के पैर उखड़ जाते। पर थोड़े दिन बाद ही गंगवादी में होयसल राजाओं का राज्य हो गया, जो जैन धर्म के अनुयायी थे। इस वंश का विजयवर्धन नामक राजा रामानुज के प्रभाव से वैष्णव धर्म का अनुयायी हो गया और तब से मैसूर की भूमि में वैष्णव धर्म ने इतना पूर्यक पैर जमा लिया है। इस प्रकार मैसूर में वैष्णव राजा के प्रतिष्ठित होने के कारण, तमिलदेश में चोल राजाओं द्वारा दमन किए जाने के कारण और दक्षिणी महाराष्ट्र में लिगामतों के द्वारा स्थान च्युत किए जाने के कारण दक्षिण भारत में जैन धर्म ने अन्तिम साँस ली मर्यापि कुछ छिट फुट अनुयायी उसके बाद में भी रह गए, परन्तु बाद में जैन धर्म वहाँ कभी सिर उठाने के काबिल नहीं रह गया। आन्ध्र देश में भी जैनों की परम्परा से शात होता है कि शैव धर्म ने ही वहाँ जैन धर्म को प्रभावहीन बनाया। पूर्वी चालुक्य राजे परवर्ती काल में शैव कवियों के आभाव दाता बने। इन्हीं कवियों में से सुप्रसिद्ध नक्षप कवि हैं, जिसने महाभारत का तेलगू में अनुवाद किया और पौराणिक शैव धर्म की महत्ता स्थापित की। पूर्व के गंग वंशी राजे भी शैव थे और वारंगल के काकतीय वंशी राजे भी शैव ही थे। इन सब शक्तियों ने दक्षिण में जैन धर्म को प्रभावहीन बनाने में योग दिया। ऐसा लगता है कि दसवीं शताब्दी का सबसे प्रभावशाली धर्म शैव मत ही था। दक्षिण से उसने जैन धर्म को एक दम उखाड़ दिया और उत्तर में अचे लुखे बौद्ध प्रभाव को आत्मसात् कर लिया। उत्तर के नाथ पंथ में अनेक बौद्ध सम्प्रदाय अन्तर्भुक्त हो गए, जिसकी चर्चा हम आगे कर रहे हैं।

इस बात विश्वास करने के प्रचुर कारण हैं कि मुसलिम आक्रमण के समय उत्तर भारत में ऐसे अनेक धार्मिक सम्प्रदाय थे जो ब्राह्मण धर्म से दूर पड़ते थे। उन दिनों बौद्ध और कापालिक तो वेद विरोधी थे ही, शैवों के अनेक मतों को भी वेद विषद्ध माना जाता था। गोरख पंथियों में प्रसिद्ध है कि गोरखनाथ के पहले स्वयं गोरखनाथ चलाये हुए बारह सम्प्रदाय थे और शिक्जी के चलाये हुए बारह या अठारह सम्प्रदाय थे। इनमें से कई को नष्ट करके गोरखनाथ ने छै अपने और छै शिवजी के सम्प्रदायों को लेकर बारह पंथी योग-मार्ग का प्रयत्न किया। इस परम्परा से यह स्पष्ट है कि गोरखनाथ के पहले उत्तर भारत में अनेक शैवमत प्रचलित थे, जिनमें से केवल छै को गोरखनाथ ने अपने सम्प्रदाय में लेने के योग्य समझा था। अपने “नाथ सम्प्रदाय” नामक ग्रन्थ में मैंने दिखाया है कि इस अनुभूतिका क्या अर्थ हो सकता है गोरखनाथ के पूर्व ऐसे बहुत से शैव, बौद्ध और शाक्त सम्प्रदाय थे, जो वेद बाह्य होने के कारण वैदिक धर्म के अनुयायी नहीं माने जाते थे। जब मुसलमानी धर्म प्रथम बार इस देश में प्रविष्ट हुआ तो दो देश दो प्रतिद्वन्द्वी धर्मसाधनामूलक दलों में विभक्त हो गया। जो शैव मार्ग और शाक्त मार्ग वेदानुयायी थे, वे वृहत्तर ब्राह्मण-प्रधान हिन्दू समाज में मिलते गए और निरन्तर अपने को कहा वेदानुयायी सिद्ध करने का प्रयत्न करते रहे। यह प्रयत्न आज भी जारी है। उत्तर भारत में ऐसे अनेक सम्प्रदाय थे, जो वेदबाह्य होकर भी वेदसम्मत योग साधना या पौराणिक देव देवियों की उपासना किया करते थे। वे अपने को शैव, शाक्त और योगी कहते रहे। गोरखनाथ ने उनको दो प्रधान दलों का पाया होगा, एक तो वे जो योग-मार्ग के अनुयायी थे, परन्तु शैव या शाक्त नहीं थे और दूसरे वे जो शिव या शक्ति के उपासक थे; परन्तु गोरख-सम्मत योग मार्ग के उतने तजदीक नहीं थे। इन्हीं दोनों दलों में से कुछ को गोरखनाथ ने अपने बारह पंथी मार्ग में चुन लिया होगा। वर्तमान नाथ पंथ में शक्ति मत भी है, लकुलीश पाशुरतो का मत भी है, वैष्णव योग मार्ग भी और धामधामों और आराधक मत भी हैं। इनका विस्तार पूर्वक विवेचन मैंने अपनी पुस्तक के

तेरहवें अध्याय में किया है। यहाँ प्रकृत इतना ही है कि दक्षिण भारत की ओरि उत्तर भारत में भी शैवमत उन दिनों सबसे प्रबल धर्म मत था और इनमें भी नाथ पंथी योगियों का प्रभाव सबसे अधिक था।

परन्तु शैव धर्म उत्तर भारत में उतना आक्रामक नहीं हुआ, जितना दक्षिण में था। इसका कारण यह था कि उत्तर भारत पर मुसलमानों के हमले निरन्तर हो रहे थे और यहाँ की साधारण जनता और राजशक्तियों में इस सम्पूर्ण विपरीत धर्मी संस्कृति के प्रति शंका का भाव उत्पन्न हो गया था। इसीलिये दक्षिण में जो धर्म मत अत्यन्त आक्रामक रूप में प्रकट हुए वे भी उत्तर भारत में एक साथ बिना किसी विरोध के फलने फूलने लगे। राजपूताने के अनेक राजवंश शैव धर्म के अनुयायी थे। मेवाड़ के बाप्पा रावल लकुलीश वासुदेव मत के अनुयायी थे। उनके नाम के साथ लगा हुआ 'शायल' शब्द सम्प्रदाय वाचक 'लाकुल' शब्द का ही अपभ्रंश रूप है। इस दरबार में जैन और वैष्णवों का भी सम्मान होता रहा। इसी प्रकार सोमर के चौहान और मालवा के परमार भी शैव ही थे। गुजरात के मूलराज प्रसिद्ध शिव भक्त थे। फिर भी इन राजाओं के दरबार में जैन मुनियों का समादर होता रहा और कभी कभी गुजरात के किसी किसी राजा ने जैन धर्म की दीक्षा भी ले ली। गुजरात के कुमारपाल के विषय में प्रसिद्ध है कि वे सुप्रसिद्ध हेमचन्द्राचार्य के शिष्य हो गए थे। गुजरात में जैन धर्म में भी फलता फूलता रहा; किन्तु धीरे-धीरे वह केवल व्यावसायिक जाति में ही सीमित रह गया। ग्यारहवीं शताब्दी के आस पास राजपूताने के सभी बड़े दरबारों में जैन मुनियों की पहुँच थी। किन्तु काशी-कन्नौज का गाहड़वाल दरबार कट्टर वेदानुयायी था। वे अपने को माहेश्वर या शैव कहते हैं। किन्तु वे विष्णु के भी उतने ही भक्त थे और अपनी सभी प्रशस्तियों में वे लक्ष्मी और नारायण की वन्दना करते हैं। इस कारण जिन प्रदेशों की भाषा आज हिन्दी है, वहाँ ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में कट्टर वैदिक मतानुयायी राजाओं का राज्य था और संस्कृत के कवियों और पंडितों का ही सम्मान था। यद्यपि वे राजा अपने को माहेश्वर ही कहते रहे; पर वे वे वस्तुतः स्मार्त परन्तु इनके सभी विश्वासों में जैनों द्वारा प्राचीन जीव

हया और प्राणि हत्या से बचने का प्रयत्न प्रभावशाली था । वस्तुतः शैव और वैष्णव धर्मों ने यद्यपि दक्षिण के जैन धर्म को उखाड़ दिया था तथापि जैनों के इस सिद्धान्त को उन्होंने स्वीकार कर लिया था और परवर्ती काल का वैष्णव सम्प्रदाय प्राणि हत्या से उसी प्रकार बचने का प्रयत्न करता रहा जिस प्रकार जैन धर्म करता रहा ।

---

## ३३. गुणमय रूप की उपासना

उत्तर भारत के नाथ शैव मत का मुकाब निर्गुण उपासना की ओर था। भक्ति इस साधना में अपरिचित वस्तु है। तुलसीदास जी ने गोरख को भक्ति का विरोधी बताया था। इस संप्रदाय के साधक वर्णव्यवस्था और एहस्थ के मायागुब्ध जीवन पर आक्रमण मूलक उक्तियाँ कह गए हैं। जो लोग इष्टयोग की साधना नहीं करते, एहस्थी की खड़ी में पिस रहे हैं, कामिनी-काञ्चन के भुलाधे में पड़े हुए हैं वे उनकी दया के पात्र हैं, वे चौरासी लाख योनियों में भटकने वाले संसार-कीट हैं, वे दयनीय हैं। किन्तु वैष्णव साधकों में एक विशेष प्रकार की सद्गुता रही है। उन्होंने किसी को भी सट्टा मार नहीं कही। भक्ति उनकी प्रेरक शक्ति थी और अहिंसा उनका मूलमंत्र। मन बचन और कर्म से अहिंसक रहना उनकी साधना की प्रथम प्रक्रिया थी। इन वैष्णवों के दो रूप हैं—एक तो निर्गुण मार्गी दूसरे सगुण मार्गी। सामाजिक बातों के इनमें मतभेद हैं। इसी बात में वे एक दूसरे पर आक्रमण भी करते हैं। परन्तु धर्मसाधना के क्षेत्र में दोनों की प्रेरक शक्ति भक्ति ही है।

दोनों में प्रधान भेद रूपोपासना के विषय में है। दूसरे श्रेणी के अर्थात् सगुण मार्गी भक्त ठोस रूप के उपासक हैं। सूत्रदास कहते हैं—

सुन्दर मुख की बलि बलि जाउँ ।

लावन-निधि, गुन-निधि, शोभा-निधि,

निरखि निरखि जीवत सब गाउँ ॥

अङ्ग अङ्ग प्रति अमित माधुरी

प्रगटित रस रुचि ठाउँ ठाउँ ।

ठामें भृदु मुसकानि मनोहर

न्याय कहत कवि मोहन नाउँ ॥



नैन सैन है है जब बोलत  
ता पर हौ बिन मोल बिकाउँ ।  
सूरदास—प्रभु मदन मोहन छवि  
यह शोभा उपमा नहि पाउँ ॥

सूरदास के प्रभु की इस मदन मोहन छवि की उपमा सचमुच संसार में नहीं है। भक्त केवल उस 'कुटिल बिथुरे कच' वाले मुख के ऊपरी सौंदर्य पर ही इतना अधिक भाव मुख हुआ हो, यह बात संसार की साधना में अद्वितीय है। यह भाव एकमात्र भारतीय वैष्णव कवियों की साधना में सर्व-प्रथम और शायद सबसे अन्त में, अभिव्यक्त हुआ है। वैष्णव कवियों को दो भेदियों में विभक्त किया जा सकता है। एक में वे भक्त हैं जो भक्त या साधक पहले हैं, कवि बाद में। दूसरी भेदी में उन कवियों को रखा जा सकता है जो कवि पहले हैं भक्त बाद में। सूरदास और तुलसीदास पहिली भेदी में आते हैं; देव, बिहारी और मतिराम दूसरी में। सूरदास उपरिलिखित भजन में कहते हैं कि इस 'लावण्यनिधि' शोभानिधि, गुणनिधि गोपाल को कवि 'मोहन' कहते हैं, यह बात उचित ही है। पर स्वयं सूरदास, कवि की उक्ति तक ही आकर नहीं रुक सकते, वे साधक हैं, वे आगे बढ़ते हैं—'नैन सैन है है जब बोलत ता पर हौ बिन मोल बिकाउँ।' कवि और साधक वैष्णव यहीं आकर अलग हो जाते हैं। कवि इस कपातीत को एक नाम देकर, एक मोहक आख्या देकर, अपने कवि स्वभाव के औचित्य की सीमा तक जाकर रुक जाता है। साधक आगे बढ़ता है और उत्सर्ग कर देता है अपने को उस मनोहारी सैन पर, उस रमणीय बोल पर—सो भी बिना मोल।

वैष्णव कवियों के इन दो रूपों को न समझने के कारण आज का समालोचक नाना प्रकार की कटूक्तियों से साहित्यिक वातावरण को छुवध कर रहा है। आज के कार्यबहुल काल में मनुष्य की ललित भावनाएँ खण्ड-भाव से प्रकट हो रही हैं। किसीको इस समय एक समग्र साहित्य को न तो समझने की कुरसत है और न रचना करने की। काव्य में यह लिट्रिक् का युग है, कथा में छोटी कहानी का और चित्रकला में विच्छिन्न चित्रों का,

पर इसलिये इन विच्छिन्न चेष्टाओं को विच्छिन्न भाव से देखना तो वास्तविक देखना नहीं है। इस युग की काव्य-चेष्टा को समझने के लिये अतीत युग की काव्य-चेष्टा का ज्ञान आवश्यक है। इस देश का साहित्य समझने के लिये देशान्तर के साहित्य को समझने की जरूरत है। विच्छिन्न काव्य चेष्टा के वर्तमान युग को समझने के लिये देशान्तर और कालान्तर नितान्त आवश्यक हैं। पर प्राचीन युग के साहित्य को समझने के लिये केवल प्राचीनतर साहित्य ही आवश्यक नहीं है, आधुनिक मनोवृत्ति का अध्ययन भी आवश्यक है। इसे अगर सुदास या नन्ददास को समझना है तो उसका प्रधान उपकरण हमारी आधुनिक मनोवृत्ति है। इस मनोवृत्ति से उस युग की मनोवृत्ति का ठीक मेल नहीं भी हो सकता। आज सौन्दर्य और लालित्य का मानदण्ड बदल गया है। इस मानदण्ड से प्राचीन लालित्य को समझना सब समय सुलभ नहीं हो सकता। इस मनोवृत्ति को लेकर अगर प्राचीन कविताओं का अध्ययन किया जायगा, तो अनर्थ की सम्भावना है। उपनिषद् के एक मन्त्र में कहा गया है 'आत्मा को जानकर परमात्मा को जानना चाहिए।' इस कथन को बदलकर कहा जा सकता है कि अमितव मनोवृत्ति को समझ कर प्राचीन मनोवृत्ति को समझना चाहिए।

मि० रोसेनकोपे ने सन् १९१४ में (Lectures on Aesthetics, London University) कहा था कि सन् १८६० ई० से इंग्लैण्ड के सर्वसाधारण का चित्त परियों के रम्य लोक से हटकर सरल सहज रूपना और मानवता की ओर अग्रसर हुआ है।' इस वक्तव्य को कुछ बदलकर भारतवर्ष के बारे में भी कहा जा सकता है। कम से कम इस शताब्दी में भारतीय चित्त भी कृष्ण और राधिका के विचार ललित और भाव-मधुर गोलोक से उतरकर सहज मानव-गृह की ओर गया है। वस्तुतः आज भारतवर्ष का चित्त भी संसार के अन्य देशों की तरह एक महा परिवर्तन की ऊर्मि-प्रत्यूर्मि से आन्दोलित हो उठा है। एक ही साथ इस देश में इतने तरह की विचार धाराएँ आ टकराई हैं कि उनके आवर्त-दुर्धर तरङ्गराशि में भारतीय चित्त कुछ हतबुद्धि-सा हो गया है। यूरोप में चौदहवीं शताब्दी में

ही मानवचित्त स्वर्ग से हट कर मर्त्य की ओर अग्रसर हो गया था। मर्त्य की ओर आकर भी वह एक बार विस्मृत परिलोक की ओर घावित हुआ था बीच में उसे तैयार होने का पर्याप्त अवसर मिला था। परन्तु यह लौभाग्र्य भारतवर्ष को न प्राप्त हो सका। एक ही साथ इतने बादों की जाड़ यहाँ आई कि आलोक्य समालोचक चकित-चकित की भाँति कर्तव्य-मूढ़ हो उठा है।

भारतीय समालोचक एक बार टेनिसन जैसे धार्मिक-भाषाएँ कवि की कविता से मुग्ध होकर वैष्णव कवियों की ओर प्रश्न-भरी दृष्टि से देखता है, एक बार कीट्स की अस्तमित-तरुणा आनन्दमयी उक्तियों से चकित होकर देव और विहारी में उस भाव को खोजता है, एक बार वायरन के तत्त्व-गम्भीर आख्यान-काव्यों का आनन्द लेकर कबीर और दादू की ओर दौड़ता है, एक बार ईसाई भक्तों की गलदधु-भाषुकता से विस्मय होकर रसखान और घन आनन्द की ओर ताकता है और अंत में सर्वत्र निराश होकर क्षुब्ध हो उठता है। नवीन आलोचक इस महा विकट युग में सबसे अधिक रूप के भीतर अरूप की सत्ता, खोजने में अपना समय नष्ट करता है। पर हाथ, नाना अभि-नव वादों के तरंगघात से जर्जर उसकी चित्त-तरी अधिकाधिक आन्त हो उठती है !

एक बार इंग्लैण्ड में ग्रीक नाटकों के विकट प्रबल आन्दोलन हुआ था। कहा गया था कि वह असमीचीन और अस्वाभाविक हैं, अमांजित और कुरुचिपूर्ण हैं। पर शीघ्र ही इस भूल का सुधार हुआ। अंग्रेज मनीषियों ने आलोचनात्मक प्रबन्धों से अंग्रेज मस्तिष्क को उस सौन्दर्य का अधिकारी बनाया। ग्रीक नाटकों को ह्यूमेनिस्टिक या मानवीय-रस-मूलक कहा गया था। कहना न होगा कि आज का यूरोपीय साहित्य कम मानवीय नहीं है, पर ग्रीकों के मानव-आदर्श और वर्तमान युग के मानव-आदर्श एक ही नहीं हैं। ब्रजभाषा कवियों की रूपोपासना को मानवीय कहा जा सकता है, ब्रज का कवि कभी कृष्ण या राधिका के रूप में अमानव रस का आरोप नहीं करता। वह केवल एक बार स्वीकार कर लेता है कि उसका

प्रतिपाद्य अतिमानव या सुपर ह्यूमन है, पर इस स्वोकारोक्ति से उसके रस-बोव में कहीं भी कमी नहीं आती। वह ईसा मसीह के भावुक भक्तों की भाँति सदा अपने प्रभु को दैवी प्रतीक या दैवी मध्यस्थ नहीं समझता। कहे तो कह सकते हैं कि ब्रज का कवि भी मानवीय है। पर ग्रीक कवि, आज के नाटककार, और ब्रजभाषा के कवि की मानवता की कल्पना में आकाश-नाताल का अन्तर है। तीनों तीन चीज़ें हैं—एक दम अलग-अलग।

ग्रीक नाटकों और मूर्तियों के साथ प्राचीन ग्रीकों की रीति-नीति, आचार-व्यवहार जटिल भाव से जड़ित थे। मीक आर्ट केवल आर्ट के लिए नहीं था, वह मीकों का जीवन था, ग्रीकों का उत्सव था, ग्रीकों का सर्वस्व था। एक अमेरिकन लेखक ने लिखा है कि हम आजकल नाटक को जिस दूरस्थ सच्ची की भाँति देखते हैं, ग्रीक उस तरह उसे नहीं देखते थे। ग्रीक दर्शक अभिनेताओं से इतने दूधक् नहीं होते थे। एक बार कथिपर खीन्द्रनाथ ने नाट्य मंच की आलोचना के प्रसंग में कहा था कि वे जापानी क्लासिकल नाटकों की एक विशेषता देखकर आनन्दित हुए थे। अभिनेता सजकर दर्शकों के पीचीपीच से होकर रंग-मंच की ओर अग्रसर होते थे। यह बात मानों यह घोषित कर रही थी कि अभिनेता दर्शकों से दूर की चीज नहीं हैं। ग्रीक नाटकों में शायद ऐसा नहीं होता था पर ग्रीक दर्शक निश्चय ही उसे अपने जीवन का एक स्वाभाविक अंग समझता था।

गोइ या हिन्दू देवताओं की मूर्तियों का अपूर्व काव-फौशल उस प्रकार का हो ही नहीं सकता था, शिष्यकार उसे अपने तन-मन और जीवन से न रखता। ब्रजभाषा के कृष्ण की सारी लीला भी इसी तन-मन और जीवन के ईंट-चूने-गारे से बनी है। कवि ने अपनी मनुष्यता का सुन्दर-से-सुन्दर उपयोग उस भाव-मधुर रुचिर-छवि को रचना में किया है। वह एकदम दूर से निरीक्ष्यमाण चित्र नहीं है, वह अन्तर की प्रेम-छोटस्विनी को ठोस जमाइद है। वहाँ आकर उसकी सारी धारा सार्थक हो गई है रूपांतरित हो गई है। वह किसी तत्व, वाद या व्याख्या की अपेक्षा नहीं रखती, वह अपने आप में पूर्ण है; पर आज का नाटक या काव्य या शिल्प न तो उस जीवनमय, किन्तु नित्य-नूतन ग्रीक

मानव्यता के साथ मेल रखता है, और न इस मनोमय किन्तु परिवर्तनातीत भाव-मधुर वैष्णव मानवीयता का सादृश्य रखता है। वस्तुतः आज की ललित कला का कोई एक रूप स्थिर नहीं किया जा सकता। बहुत्वधर्मा, नानासुखी, साक्षिसापेक्षा इस कला का रूप भविष्य ही निर्णय करेगा।

इसीलिये जब सूरदास रूपातीत को 'मोहन' कहना कवि के लिये 'व्याय' बताते हैं तो उनकी बात सहज ही समझ में आ जाती है। यह रूप अन्य रूपों की भाँति आगे बढ़ने का मार्ग नहीं दिखाता, यहाँ आकर सारी गति रुक हो जाती है, सारी वृत्तियाँ सुख हो जाती हैं, सारी चेष्टाएँ व्यर्थता के रूप में सार्थक हो जाती हैं, कवि की सारी सार्थकता इस व्यर्थता में ही है। यह रूप मोहन है। मोहनेवाला, अर्थात् जहाँ आकर सारी मानसिक वृत्तियाँ शिथिल हो जाती हैं। तुलसीदास एक जगह कहते हैं :

सखि ! रघुनाथ रूप निहार

सरदविधु रवि सुअन मनसिज मान भंजन हार ।

स्थाम सुभग सरोर जनु मन-काम सुरनिहार ॥

आश चन्दन मनहुँ मरकत सिंहर लसत निहार ।

रत्निर उर उपवीत राजत पदिक गज मनहार ॥

मनहुँ सुरधुनि नखत मन्द विच तिमिर भंजनिहार ।

विमल पीत दुकूल दामिनि-दुति-विनिन्दनिहार ॥

बदन सुषमा सदन सोभित मदन मोहनि हार ।

सकल अङ्ग अनूप नहि कोउ सुकवि बरननिहार ॥

दास तुलसी निरखतहिं सुख लहत निरखनिहार ।

यहाँ भी कवि के उसी रूप का उल्लेख है। ऐसा कोई कवि नहीं जो उस 'सकल अङ्ग अनूप' का वर्णन कर सके। उसके लिये एक शब्द ही उपयुक्त है और इसका उपयोग वह तब करता है जब उसकी उपमाएँ समाप्त हो जाती हैं, उल्लेखार्थ रुद्धवेग हो पड़ती हैं रूपक किगत-वृद्धि हो उठते हैं। उस समय वह एक ही बात कहता है—'बदन सुषमा सदन सोभित मदन-मोहनिहार।' और यही आकर सारा कवित्व पर्यवसित हो जाता है। जिसका रूप एक बार

कवि को भाव—मदिर कर देता है उसे मदन कहा जा सकता है। मदन की यह विशेषता है कि उससे मोह का आवेश बढ़ता है, नई-नई कहानाएँ, नये-नये रूपक दर्शक को विह्वल कर देते हैं। कृष्ण के अतिरिक्त अन्य सांसारिकों के रूप में मदन का भाव है—वह मादक होता है, उससे जड़ता आती है पर कृष्ण का रूप 'मदन मोहन' है वह मादकता को भी मोहित कर देता है। उस मोह का रूप समःप्रकृतिक नहीं है वह सत्त्व-प्रकृतिक है\*। वैष्णव कवि की वाणी का सारा ऐश्वर्य इस 'मदन मोहनिहास' छवि तक आकर हत-चेष्ट हो जाता है, साधक एक कदम आर आगे बढ़ता है। वह बिना किसी कारण, बिना किसी लाभ के, बिना किसी उद्देश्य के, अपने को उस पर निछावर कर देता है, अपनी सत्ता उसीमें विलीन कर देता है, यही उसका सुख है, यही उसकी चरम आराधना है—'दास तुलसी निरखतहि सुख लहत निरखनिहास।' देखनेवाला देखने में ही सुख पाता है—केवल देखने में।

कविवर रवीन्द्रनाथ एक स्थान पर लिखते हैं—'जो लोग आनन्द की साधना करते हैं, जो सत्य की उपलब्धि करना चाहते हैं, उन्हें बार-बार यह बात सोचनी होती है कि जो कुछ देख और जान रहे हैं, वही चरम सत्य नहीं है, स्वतंत्र नहीं है, किसी भी वस्तु में वह अपने आपको पूर्ण रूप से प्रकाशित नहीं कर सकता;—यदि वे ऐसा करते होते तो सभी स्वयम्भू, स्वप्रकाश होकर स्थिर हो रहते। ये जो अन्तहीन स्थिति के द्वारा अन्तहीन गति का निर्देश करते हैं, वही हमारे चित्त का चरम आश्रय और चरम आनन्द है। अतएव आध्यात्मिक साधना कभी रूप की साधना नहीं हो सकती वह सारे रूप के भीतर से चञ्चल रूप के शब्दों को अतिक्रम करके भ्रूय सत्य की आर चलने की चेष्टा करती है। कोई भी इन्द्रियगोचर वस्तु अपने को ही चरम समझने का भान करती है, साधक उस भान के आवरण को भेद कर ही परम पदार्थ को देखना चाहता है। यदि यह नाम-रूप का आवरण चिरन्तन होता तो वह भेद न कर सकता। यदि वे अविश्रान्त भाव से निरन्तर प्रवहमान होकर अपनी सीमा को

आप ही न तोड़ते चलते तो इन्हें छोड़कर मनुष्य के मन में और किसी चिन्ता का स्थान ही न होता तब इन्हें ही सत्य समझ कर हम निश्चिन्त हो बैठे रहते,—तब विज्ञान और तत्त्वज्ञान इन सारे और प्रत्यक्ष सत्यों की भीषण शृंखला में बँधकर मूक और मूर्छित हो रहते। इनके पीछे और कुछ भी न देख पाते। किन्तु ये सारे खण्डवस्तु—समूह केवल चल ही रहे हैं, कतार बाँध कर खड़े नहीं हो गए, इसीलिये हम अखण्ड सत्य का, अक्षय पुरुष का, सन्धान पाते हैं.....

इस लम्बे उद्धरण को उद्धृत करने का कारण यह है कि इसमें रूप के बन्धनात्मक-स्वरूप से उतरकर बाधात्मक-रूप में प्रकट होने की सुन्दर व्याख्या की गई है। रूप बन्धन है, पर यह बन्धन रूपातीत को समझने में सहायक है, रूप धसा है पर वह सनातन की ओर इशारा करता है, रूप सीमा है पर उसमें असीम की भाव—व्यञ्जना है। यही रूप जब आध्यात्मिक-साधना का विषय हो जाता है तो बन्धन से भी नीचे उतरकर बाधा का रूप धारण करता है। फिर वह उस राजोद्यान के सिंहद्वार के समान गन्तव्य की ओर इशारा न कर अपने आपको ही एक विषय बाधा के रूप में उपस्थित करता है। एक सुप्रसिद्ध कलामर्मज्ञ ने कहा है कि छार्टे जब देवी-देवताओं की उपासना में नियोजित होता है तो उसमें एकघृष्टता आ जाती है उसमें प्रतिभा का स्थान नहीं रह जाता, क्योंकि प्रतिभा नित्य नूतन रूप चाहती है, देवी-देवताओं की मूर्तियों की एक ही कल्पना सदा के लिये स्थिर हो जाती है। रवीन्द्रनाथ स्वयं कहते हैं—‘कल्पना जब रुककर एक ही रूप में, एकान्तभाष से, देह धारण करती है, तब वह अपने उसी रूप को दिखाती है, रूप के अनन्त सत्य को नहीं। इसीलिये विश्व-जगत् के विचित्र और चिर-प्रवाहित रूप के चिर परिवर्तनशील अन्तहीनप्रकाश में ही हम अनन्त के आनन्द को मूर्तिमान देखते हैं।’

## ३४. वैष्णव कवि की रूपोपासना

वैष्णव कवि भी रूप के इस पहलू को समझता है। अन्तर यह है कि उसका रूप चरम रूप है जिसकी उपासना में वह अरूप की प्रवाह नहीं करता। यह रूप कल्पना-प्रसूत नहीं है बल्कि कल्पना से परे है ! रवीन्द्रनाथ का सत्यवाद और उपलब्धि एक ही वस्तु है, इसीलिये उनके निकट कल्पना और भक्ति में कहीं विरोध नहीं हो सकता है। वैष्णव कवि कल्पना और भक्ति को दो चीज समझता है जहाँ उसकी कल्पना रुक जाती है—अर्थात् जब रूप 'मोहन' हो उठता है, जहाँ सारी चित्तवृत्ति मुग्ध हो जाती है—वहीं उसकी भक्ति शुरू होती है। कवि वैष्णव ( विहारी आदि ) कल्पना के उस ऊँचे स्तर तक पहुँच कर रुक जाते हैं जहाँ वह हस चेष्ट हो जाती है, मुग्ध हो जाती है। भक्त-वैष्णव और आगे बढ़ता है और अपनी चरम उपासना—आत्म निवेदन—में अपना सर्वस्व आहुत कर देता है।

वैष्णव कवि के इस भाव को न समझकर वर्तमान युग के आलोचक उसे 'टाइप' या 'क्लार्मल' हो जाना कहने लगते हैं। हमें 'टाइप' या 'क्लार्मल' शब्द से कोई एतराज नहीं। मगर यूरोप के परिचित कभी-कभी कहा करते हैं कि 'टाइप' में आकर आर्ट अवनत हो जाता है, अर्थात् वे इन शब्दों को कुछ अनादर के साथ व्यवहार करते हैं। इस सम्बन्ध में एक कला समीक्षक का कहना है—'क्लार्मल' कहकर शिल्प की अवज्ञा करना इस युग में हमें संयत करना होगा। जिस प्रकार काव्य में, उसी प्रकार चित्र और शिल्प कला में आर्ट (कला) को 'क्लार्मल' होना ही पड़ता है—किन्तु इसीलिये एका-एक भाव के लिये एक सम्पूर्ण 'क्लार्म' या सकना जाति और कला के इतिहास में मामूली बात नहीं है।'

बात असल में यह है कि जाति ने जिस रूप को निरन्तर मनन के द्वारा एक श्रेष्ठ रूप दिया, वह सौन्दर्य की सृष्टि को विशिष्ट होने से बचाता है। एक



अगह हमने चीन की कला के सम्बन्ध में एक यूरोपियन समालोचक का एक उद्धरण पढ़ा था जिसका भाव यह है कि कला के रस को लगातार जारी रखने में चीनवालों ने संसार की अन्य किसी जाति से अधिक सकलता पाई है, क्योंकि चीन की कला एक विशेष आकार में चार हजार वर्षों से बराबर चली आ रही है। कला के विषय में चीनवालों के बारे में जो बात कही गई है वही बात काव्य के विषय में वैष्णव-कवियों के बारे में कही जा सकती है। पर जिसलिये एक विशेष आकार-भंगी ग्रहण करने के कारण चीन की कला में रस का आभाव बताना धृष्टता है, उसी प्रकार वैष्णव कवियों की रूपोपासना को भी वैचित्र्य-विहीन कहना अनुचित है।

यह तो हुई टाइप और फ़ार्म की बात। पर कुछ समालोचक इसके विपरीत विचार रखकर भी वैष्णव कवि की रूपोपासना को हीय समझते हैं। ये फ़ार्म और टाइप को स्वीकार कर लेते हैं पर इस 'फ़ार्म' के साथ चित्तवृत्ति की मुक्ति को स्वीकार नहीं करते अर्थात् वे कृष्ण या राधा के विशेष रूप के सम्बन्ध में कोई आपत्ति नहीं करते। ये यह स्वीकार कर लेते हैं कि रूपातीत को एक कल्पनातीत रूप में बँधना पड़ा है, पर साथ ही यह भी निश्चित कर देना चाहते हैं कि इस स्वीकृत 'फ़ार्म' को अमुक-अमुक चित्तवृत्तियों के साथ बाँध देना चाहिए। देवी को अगर एक रूप दिया गया है तो उस रूप की परितृप्ति के साधन भी निश्चित होने चाहिए। इसी भेद्यी में वे पण्डित भी आते हैं जो राधा और कृष्ण के संयोग-भूतार को स्वात्म्य समझते हैं। असल में रूप के साथ जब-वृत्तियों को बाँध देते हैं तभी वह बन्धन से उतरकर बाधा के रूप में खड़ा हो जाता है। 'तारा' या 'त्रिपुर सुन्दरी' का रूप भी निश्चित है और साधनापद्धति भी। पर वैष्णव कवि का रूप तो निश्चित है किन्तु साधनापद्धति अनिश्चित। कृष्ण की उपासना, पिता, स्वामी, पुत्र, सखा, माता प्रेमी आदि नाना रूपों में हो सकती है। वह बन्धन है पर बाधा नहीं।

शुलसीदास कहते हैं :—

मोहि तौहि नाते अनेक भानिये ज भावै,  
व्यो त्यो तुलसी कृपाल चरन सरन पावै।

यही वैष्णव कवियों की रूप-उपासना है। रूप के अतोंत अरूपसत्ता को यह भूल जाता है पर इस ग्रन्थन की स्वीकृति को सार्थक करता है चित्तवृत्ति की मुक्ति में ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार नदी अपने तटों की सार्थकता अपने स्रोत की मुक्ति में पाती है। इसीलिये वैष्णव कवि की ठोस रूपोपासना 'वेगन' की रूपोपासना से अलग है।

उन्नीसवीं शताब्दी के दार्शनिकों का विश्वास था कि मानव सभ्यता के प्रथम युग में मनुष्य ने भय और कौतूहलवश नाना अदृष्ट शक्तियों के नाना रूपों की कल्पना की थी; परन्तु वर्तमान शताब्दी के दृढतत्त्वशास्त्र के नये आविष्कारों ने इस विश्वास की जड़ हिला दी है। आज संसार की भिन्न जातियों को आदिम अंधी का समझा जाता है, उनमें बिना किसी अपवाद के इस बात का अभाव पाया जाता है। इसके अतिरिक्त उद्यो-उद्यो पुरानी जातियों के पुराने इतिहास का प्रकाशन होता जा रहा है, त्यो-त्यो यह बात प्रकट होने लगी है कि भयमूलक रूपों की कल्पना मध्यवर्ती स्थिति की उपज है, आदिम की नहीं। प्रागैतिहासिक युग के चित्रित दीवारों गुफाओं और शाल आदि के अध्ययन से दृढतत्त्व-वेत्ताओं ने निष्कर्ष निकाला है कि आदि मानव की रूप-सृष्टि के दो कारण थे। प्रथम यह कि आदिमानव का विश्वास था कि जिस चीज का चित्र बनाया जाता है, वह वस्तुतः बढ़ा करती है; अगर एक हरिण का चित्र बनाया गया, तो वन में अनेक हरिणों की वृद्धि होगी। एक बादल का चित्रित करना आकाश में बादलों की वृद्धि का उपाय समझा जाता था। दूसरा कारण यह था कि आदिमानव चित्रों को वास्तविक वस्तु का प्रतिनिधि समझता था, अतएव उसके पास किसी चीज के चित्र रहने का मतलब यह था कि सचमुच उस वस्तु पर उसका अधिकार होगा। जब जे. जी. फ्रेजर ने पहले पहल इस निष्कर्ष का प्रकाशन किया, तो सारे यूरोप में इसका बड़ा ज्वरदस्त विरोध किया गया। कहा गया कि ये स्वप्नप्रसूत विचार हैं, कपोल-कल्पना है अतत्त्व है; पर सन् १९०३ ई० में जब एस० रेनेक ने लगभग १२०० प्रागैतिहासिक चित्रणों को प्रकाशित किया, तो विरोध ठण्डा पड़ गया। देखा गया कि इन चित्रों में सबके सब दूध देने वाले पशुओं,

हरियों, घोड़ों और बकरियों के थे। इस अंगी की रूपसृष्टि को तान्त्रिक सृष्टि 'मैजिकल क्रिएशन' कहते हैं।

यह देखा गया है कि मनुष्य जब हाथ से चित्र खींचने लगता है, उसके बहुत पहले से ही वह मन में उसकी कल्पना किए रहता है। इसलिये तान्त्रिक सृष्टि ही मनुष्य की आदि मानस सृष्टि रही होगी। हिन्दुओं के वेद यद्यपि आदि मानव-सभ्यता के प्रतिनिधि नहीं हैं; परन्तु वैदिक मन्त्रों में तान्त्रिक सृष्टि के मानस-रूप का आभास हम पाते हैं। जो हो, मनुष्य ने सभ्यता के शिखर पर चढ़ने के लिये जो दूसरी सीढ़ी बनाई वह तान्त्रिक सृष्टि के सर्वथा विपरीत थी। अब उसे धीरे-धीरे अनुभव होने लगा था कि हिरन का चित्र बनाने से ही हिरन नहीं बढ़ते, गाय के अंकित होते ही उसके घर दूध की नदी नहीं बहने लगती—कोई शक्ति है जो इस तान्त्रिक नियम में बाधा पहुँचा रही है। यह शक्ति भयानक है। यह गायों का संहार कर सकती है, यह वन को निःसत्व बना देती है, वह घर के बथों पर भी हमला करती है, उधों-उधों मनुष्य सभ्यता की दीड़ में आगे बढ़ने लगा, र्यों-र्यों वह इस शक्ति की विकरालता अनुभव करने लगा। केवल विकरालता ही नहीं, उसने देखा कि यह शक्ति अनेकरूप है—इसको पूजा होनी चाहिए। यही से भयमूलक रूप की सृष्टि आरम्भ हुई।

मनुष्य का मन कुछ और आगे बढ़ा। उसने देखा, विकराल शक्ति की पूजा हो रही है, तो भी भयजनक अवस्था का अन्त नहीं होता। उसने अनुभव किया कि केवल विकराल शक्ति भर ही सब कुछ नहीं है, कुछ और है, जो इसकी पूजा के बिना भी संसार की रक्षा कर रहा है और पूजा होने पर संसार का नाश कर सकता है। वह अकेले ही पैदा कर सकता है, अकेले ही रक्षा कर सकता है, अकेले ही संहार भी कर सकता है। हवा उसीके इशारे पर नाच रही है समुद्र उसीके इशारे पर मौन-गम्भीर मुद्रा से आकाश की ओर ताक रहा है, सूर्य उसीके इंगित पर जल रहा है। वह महान् है, वह ब्रह्म है, वह व्यापक है।

## ३५. ब्रह्म का रूप

और उसका रूप ? संसार में ऐसा क्या है, जो उसका रूप न हो ? क्या है, जो ठीक-ठीक उसका रूप बता सके ? यह यह भी नहीं, वह भी नहीं, ऐसा भी नहीं, वैसा भी नहीं,—नेति, नेति, नेति ! मगर मनुष्य के भीतर का कवि, उसके भीतर का कलाकार, उसमें का मनीषी इसकी सृष्टि करेगा ही । सधे रास्ते न हो सकेगा, तो टेढ़े से चलकर, भौतिक रूप से काम न चलेगा, तो अभिनव कल्पना के बल पर । यह अनन्त है; पर मनुष्य उसकी अनन्तता को अभिव्यक्त कैसे करेगा । उसके पास क्या है, जो अनन्तत्व को रूप दे सके ? है क्यों नहीं । यह जो शंख में एक आवर्त है, घुमाते जाओ; पर समाप्त होने का नाम नहीं लेता—न स्थान में और न काल में—उस आवर्त मात्र को अनन्तत्व का प्रतीक क्यों नहीं माना जा सकता ? इस आवर्त को आधार करके स्वरितक और प्रणव की रचना हुई । ब्रह्म शाश्वत है; पर शान्ति को रूप कैसे दिया जाय ? मनुष्य ने उसकी भी कल्पना की । सारांश, उसने अरूप को रूप देने के नाना उपाय आविष्कार किए और यहाँ से प्रतीकमूलक सृष्टि का सूत्रपात हुआ ।

मनुष्य ने ब्रह्म को व्यापक समझा; परन्तु इस व्यापकता और सर्व-शक्तिमत्ता की कल्पना के कारण उसका मन सदा अपने को उस शक्ति के नीचे समझता रहा धीरे-धीरे उसने ब्रह्म को 'ईश्वर' नाम दिया । ईश्वर अर्थात् समर्थ, ऐश्वर्यमय इस ऐश्वर्यबोध के कारण मनुष्य ने उसे अपने से अलग समझा, अपने से बड़ा समझा, अपना उद्धारकर्त्ता समझा । इस मनो-वृत्ति को धार्मिक मनोवृत्ति कहते हैं; परन्तु नाथ ही मनुष्य यह सदा समझता रहा कि यह ब्रह्म है, वह व्यापक है, वह हमसे अलग नहीं । इस मनोवृत्ति को दार्शनिक कहते हैं । ये दोनों बातें मनुष्य की सभ्यता के विकास में बहुत बड़ा हाथ रखती हैं समय-समय पर इन दोनों वृत्तियों में कभी यह, कभी वह प्रबल होती रहीं । इसके कलश्वरूप संसार में नाना प्रकार के धर्म-मत और दार्शनिक-

मतवाद पैदा होते रहे। इन दोनों मनोवृत्तियों के कल-स्वरूप मनुष्य-जाति ने अनेक प्रकार के चित्र, मूर्ति, मन्दिर आदि निर्माण किए, अनेक गीति, कविता और नाटक लिखे; कलित कला की अभूतपूर्व समृद्धि सम्पादन की; पर सर्वत्र यह कभी धार्मिक और कभी दार्शनिक मनोवृत्ति का परिचय देता रहा।

अचानक मध्यकाल की भारतीय साधना में हम एक प्रकार के कथियों और चित्रकारों को एक अभिनय सृष्टि में तल्लोल देखते हैं। वे मानते हैं कि उस शक्ति में ऐश्वर्य है—इसलिये निश्चय ही वह बड़ी है, अभेद्य है, अच्छेद्य है। साथ ही वे यह भी स्वीकार करते हैं कि वह ब्रह्म है, वह ध्यापक है—काल में भी और स्थान में भी; अपार वह अनादि है, अनन्त है, अखण्ड है, सनातन है, पर ये दोनों उसके एकाङ्गी परिचय हैं। ऐश्वर्य भी उसका एक अंग है, ब्रह्मत्व भी उसका एक अंश है, इन दोनों को अतिक्रान्त करके स्थित है उसका माधुर्य। इसका साक्षात्कार होता है प्रेम में! जहाँ वह साधारण-से साधारण आदमी का समानधर्म है। वही, इस प्रेम की व्यास में अपना सब कुछ भूल जाता है, वही अहीर की छोहरियों के सामने माचता है, गाता है, कल्लोल करता है—

जाहि अनादि अनन्त अखण्ड अछेद अभेद सुवेद बतावैं ।

साहि अहीर की छोहरियों छछिया भरि छाँछ पै नाच नचावैं ।

जो उसे शानमय समझते हैं, ब्रह्म समझते हैं, वे उसके एक अंश को जानते हैं; पर जो उसे प्रेममय समझते हैं, वे उसके सम्पूर्ण अंश को जानते हैं। वे कवि और साधक ही प्रथम बार साहस के साथ कहते सुने जाते हैं कि मोक्ष परम पुरुषार्थ नहीं प्रेम ही परम पुरुषार्थ है—‘प्रेमा पुमर्थो महान् ।’

❀ श्री मन्नागवत ( १-२-११ ) में एक श्लोक आया है—

विदन्ति तत्पञ्चविदस्तत्त्वं यजज्ञानमद्वयम् ।

ब्रह्मेति परमामेति भगवानिति शक्यते ॥

इस श्लोक के आधार पर वैष्णव आचार्यों ने परम-पुरुष के तीन रूपों का वर्णन किया है—ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्। ब्रह्म भगवान् के उस

इस मध्यकाल की साधना के समानान्तर चलने वाली एक दूसरी प्रचंड प्रेम-धारा यूरोप में उसी काल में आविर्भूत हुई थी। वह थी ईसाई-साधना। प्राचीन यहूदियों के धर्म-ग्रन्थों के अनुसार यह संसार खुदा के हाथ से खिसक-कर गिरा हुआ यन्त्र है। इसीलिये यह पापमय है। इसमें पैदा होने वाले मनुष्य स्वभावतः ही पापमय हैं। इनके और ईश्वर के बीच एक बड़ा भारी व्यवधान रह गया है। इसी व्यवधान के कारण मनुष्य—पापात्मा—भगवान् के पवित्र संसर्ग से वञ्चित होकर शैतान का शिकार बन गया है। मनुष्य की इस दुर्दशा से कष्टा विगलित होकर प्रभु ईसा मसीह ने अवतार धारण करके इस व्यवधान को भर दिया। जिसके सिर पर उस कष्टा मूर्ति ने हाथ रख दिया, वही तर गया। पतितों पर इसकी विशेष दृष्टि है, दीनों की पुकार पर वह दौड़ पड़ता है, आतों को वह शरण देता है—अद्भुत प्रेममय है वह पतित पावन, वह दीन-दयालु, वह अशरण-शरण।

रूप का नाम है, जो विशुद्ध ज्ञानमय है, ज्ञान मार्ग के उपासक इस रूप की उपासना करते हैं। इसमें ज्ञाता और ज्ञेय का भेद नहीं रहता। जिस प्रकार अमैचल से सूर्य-मण्डल के नाना विजातीय पदार्थ, जिनमें सैकड़ों मील विस्तृत आन्धकारमय वरारें भी हैं, एक ही अ्योति के रूप में दिखाई देते हैं, उसी प्रकार भगवान् का नामा शक्तिसय और गुणमय रूप ज्ञानमय ही दिखाई देता है (महासंहिता ५. ३१)। परमात्मा योगियों का उपास्य है। इसमें ज्ञाता और ज्ञेय में भेद रहता है। जिस प्रकार सूर्य बहुत दूरी पर रहकर नाना पदार्थों के नाना रूपों में प्रकाशित होता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण अचिन्त्य शक्ति के द्वारा नाना पदार्थों में 'परमात्म—रूप' से प्रत्यक्ष होते हैं (श्रीमद्भगवत् १. १. ५२)। प्रेमियों के निकट भगवान् का पूर्ण रूप प्रकट होता है। इस रूप को "भगवान्" कहते हैं। वैष्णव आचार्यों ने बताया है कि श्रीकृष्ण ही भगवान् हैं। (दे०—जीव गोस्वामी का भगवत्सन्दर्भ और भागवत के ऊपर उद्धृत श्लोक पर महाप्रभु वल्लभाचार्य, श्री जीवगोस्वामिपाद और श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती की टीकाएँ।)

मध्यकाल की भारतीय साधना में भी श्रीकृष्ण या श्रीरामचन्द्र ठीक इसी प्रकार दिखाई देते हैं। कहीं हम उन्हें मांसाशी गीध 'जटाऊ की धूरि जटान सो' मारते देखते हैं, कहीं अस्पृश्य शक्ती के जूटे बेरों को प्रेम—सहित चखते देखते हैं, कहीं दीन सुदामा के पैरों को 'आँधुन के जल सो' चोते देखते हैं—ठीक उसी प्रकार का पतितपावन का रूप, दीन-दयालु रूप, अशरण-शरण रूप ! मगर वैष्णव कवि यहीं आकर नहीं रुकता। ईसाई साधक की विगलदाया भावुकता ही उसकी नैया पार कर देती है, उसे आगे जाने की जरूरत नहीं; पर वैष्णव कवि नैया पार करने की चिन्ता में उतना समय नष्ट करना नहीं जानता। उसे अर्थ नहीं चाहिए, धर्म नहीं चाहिए, मोक्ष नहीं चाहिए—चाहिए भक्ति, चाहिए प्रेम—

अरथ न धर्म न, काम नहि, गति न चहाँ निरवान,

जनम जनम रघुपति भगति, यह वरदान निदान ।

संसार के उपासना के इतिहास में रूपों की उपासना की कमी नहीं है। परन्तु, कहीं है वह साहस, वह प्रेम पर बलिदान कर सकने की अद्भुत क्षमता, जो मध्यकाल के इन साधक कवियों ने ठोस रूप के प्रति प्रकट की है।—

या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर को तजि जारौं,

आठहु सिद्धि नवीं निजि की सुख नन्द की धेनु चराह विचारीं ।

यह उपास्य रूप की चरम—सृष्टि है, इसके आगे रूप की रचना असम्भव है यहाँ आकर भगवान् मनुष्य के अपने हो जाते हैं, वह बड़े भी नहीं, छोटे भी नहीं, हमारे हैं हमारे माता-पिता हैं, भाई-बहन हैं, सखा-सखी हैं, प्रेमी-प्रेमिका हैं, पुत्र-पुत्री हैं—हम जो चाहें वही हैं। वेदाँ और पुराणों ने जिसका कोई उपयुक्त पता नहीं बताया, ईजिप्ट और कुरान जिसकी व्याख्या करते थक गए, दर्शन और धर्म-ग्रंथ जिसका कोई सम्बन्ध न पा सके, वही कितना सहज है, कितना निकट ! वह हमारा प्रेमी है !—

‘ब्रह्म जो भाष्यो पुराननि में

तेहि देख्यो पलोदत राधिका पायन ।’

## ३६. सूक्ती साधकों की मधुर-साधना

हमारे आलोच्य काल में रूपोपासना की एक बहुत ही सुन्दर परिणति हुई। यह कान्तारति या मधुर भाव की उपासना कही जाती है। इस भेदी के भक्तों के अनुगार भगवान् के साथ जितने भी सम्बन्ध हो सकते हैं उनमें मधुर-भाव या कान्तारति का सम्बन्ध सर्वाधिक मनोरम है। तीन प्रकार के भक्तों में इस साधना ने तीन रूपों में अपने को प्रकट किया है। निगुणमार्गी भक्तों में, सूक्ती साधकों में और सगुणमार्गी भक्तों में, इनमें निगुणमार्गी भक्तों ने जब तब प्रेमादेश में आकर भगवान् के प्रति मधुरभाव के पद कहे हैं। उनकी साधना का प्रधान और प्रथम वस्तुव्यवही नहीं है। कबीर दादू आदि भक्तों ने और बातों के बीच इस मधुर प्रेम सम्बन्ध की भी चर्चा की है। कबीर के दोहों में इस कान्तारति का बहुत ही सुन्दर परिपाक हुआ है, विशेष करके विहावस्था की उक्तियों में —

यह तन जालों मसि करौं, क्यों धूझौं जाह सरगि ।  
मति वै राम दया करै, यरोस बुझावै अगि ॥  
अंखडियौं छाय पड़या, पंच निहारि निहारि ।  
कीहिकियौं छालया पड़या, नांव पुकारि पुकारि ।  
नैनौ भीतरि आब तूं, क्यों ही नैन भँपेळ  
ना हम देखौं और कूँ, ना तुम देखन देखै ॥

इसी प्रकार उनके पदों में भी प्रिय से मिलने की अपार व्याकुलता का पता चलता है। इन पदों में सर्वत्र उद्योग भक्त की ओर से ही होता है। भक्त रूपी प्रिया ही भगवान् रूपी प्रिय के पास जाती है उसके पैर काँपते रहते हैं, शरीर में पसीना छूटता रहता है, उस देश की रीति की जानकारी का आभाव मन को उन्मथित करता रहता है, प्रिया की ऊँची अदरिथा की कल्पना से साहस हटता रहता है। इसीलिये कुछ विद्वानों ने इन वाक्यों में सूक्ती प्रभाव बताया



है। कहीं-कहीं तो यह प्रभाव बहुत स्पष्ट है, पर कहीं-कहीं सी-चतान के द्वारा इसे सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है।

इस देश में मुस्लिम शासन के सूत्रपात होने के पहले से ही सूफी साधक आने लगे थे। मुसलमान लोग एकेश्वरवादी हैं इसीलिये बहुत लोग मुस्लिम सूफी साधकों को भी एकेश्वरवादी समझ लेते हैं। बहुत लोग हिन्दुओं के पुराने ग्रन्थों में आए हुए अद्वैतवाद से एकेश्वरवाद को अभिन्न मानते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में कई सुधारक आन्दोलन हुए हैं जिनमें उरनिषदों के अद्वैतवाद को मुसलमानों के एकेश्वरवाद से अभिन्न मान लिया गया है। परन्तु सूफी लोग ठीक एकेश्वरवादी नहीं हैं। उनका विश्वास बहुत-कुछ इस देश के विशिष्टाद्वैतवादी दार्शनिकों की भाँति है। विशिष्टाद्वैतवादी दार्शनिकों का व्यावहारिक धर्म भी भक्ति ही है और इन साधकों का व्यावहारिक धर्म भी भक्ति ही है। निस्सन्देह इन साधकों की मधुर भक्ति भावना ने हमारे देश के सन्तों को भी प्रभावित किया है और इन्होंने भी इस देश से बहुत कुछ ग्रहण किया है।

इन साधकों की भक्ति-भावना इनकी लिखी प्रेम-गाथाओं में अभिव्यक्त हुई है। इन प्रेम गाथाओं में सर्वश्रेष्ठ है पद्मावती, यह मलिक मुहम्मद जायसी नामक प्रसिद्ध सन्त-भक्त की रचना है। इसमें कवि ने पद्मावती के जिस अपूर्व पारस रूप का वर्णन किया है वह अपना उपमान आप ही है। कवि जन पद्मावती के रूप का वर्णन करने लगता है तब उसका सम्पूर्ण अन्तर तरल होकर ढरक पड़ता है। पारस रूप वह रूप है जिसके स्पर्श से यह सारा संसार रूप ग्रहण कर रहा है। पद्मावती में वही पारस रूप है। पद्मावती के रूप वर्णन के बहाने भक्त कवि बल्लुतः भगवान् के प्रभाव का वर्णन किया है। पद्मावती ने मानसरोवर में स्नान करते समय जरा-सा हँस दिया और फिर

नयन जो देखा कैवल भा, निरमल नीर समीर ।

हँसत जो देखा हँस भा, दखन क्योति नग हीर ॥

अलाउद्दीन जैसे अधम पात्र ने भी जरा-सा दर्पण में उस रूप का आभास पाया था, परन्तु 'होता है दरख परस भा लौना। धरती सरग भयउ

टुह सोना ' इस रहस्य मय पारस रूप का आभास देने के लिये जायसी ने अत्यन्त धार्मिक दृष्टियों की योजना की है। वे सदा लौकिक दीप्ति और सौंदर्य का उत्थापन करते हैं परंतु विशेषणों और क्रियाओं के प्रयोग कौशल से अलौकिक दीप्ति की ओर मोड़ते रहते हैं। उन्होंने इस प्रकार एक अपूर्व काव्य की सृष्टि की है।

लौकिक जैसी दिखनेवाली कहानी का आश्रय लेकर सूफ़ी कवियों ने आध्यात्मिक मधुर भाव की साधना का संकेत किया है। प्रियतम सयके हृदय में व्याप्त है पर मिल नहीं रहा है 'पिठ हिरदय महुँ भेंट न होई। को रे मिलाप कहाँ केहि रोई।' और फिर धरती और सरग—सीमा और असीम—तो सदा ही मिले हुए थे, न जाने किसे ने इन्हें अलग कर दिया है—'धरती सरग मिले हुते दोऊ। को रे मिनार कै दीन्ह विछोऊ।' न जाने कब धरती और सरग का विछोड़ हुआ, न जाने कैसे यह विछोड़ हुआ। आज भी उस वियोग की व्याकुल वेदना से समूची—प्रकृति विद्र है, आज भी सूरज लाल होकर बूझता है, आज भी मलीख और टेसू लाल दिखाई दे रहे हैं; आज भी पेड़ों का हियर फटा जा रहा है, आज भी नदी व्याकुल भाव से दौड़ रही है यह प्रेम उद्दाम है।

जायसी ने पद्मावत में जिस उद्दाम प्रेम का वर्णन किया है वह आदर्श और ऐकान्तिक प्रेम है। उसमें लोक-मर्यादा का अतिक्रम दोष नहीं गुण समझा जाता है। यह प्रेम सोहेस्य भी है। लौकिक प्रेम के बहाने कवि सदा अलौकिक सत्ता की ओर इशारा करता रहता है। जहाँ दूसरे कवि पात्रों की अन्तःकृतियों के चित्रण द्वारा पात्र के विशिष्ट व्यक्तित्व को स्वमकाने का प्रयत्न करते वहाँ भी जायसी अलौकिक पारमार्थिक सत्ता की व्यंजना करना अपना प्रधान लक्ष्य समझते हैं। उदाहरण के लिये जहाँ पद्मावती सखियों के साथ हास-परिहास और जल-फ़ीड़ा करती है वहाँ भी कवि उनके स्वभावगत वैशिष्ट्य और अन्तःकृति निरूपण की ओर एकदम ध्यान न देकर पारलौकिक सत्ता की ओर इशारा करता है। उनकी जल-फ़ीड़ा, हार खोजना आदि प्रत्येक अवसर को परमार्थपक्ष में ले जाने को उत्सुक है। विरह के उत्पन्न मार्मिक प्रसंगों में कवि

प्रायः पारमार्थिक सत्य की ओर ही अपने पाठक का ध्यान आकृष्ट करता है। इस प्रकार विधिविहिर्भूत ऐकान्तिक और सौंदर्य प्रेम के चित्रण का फल यह हुआ है कि कवि विशिष्ट स्वभाव को प्रकट करने वाली अन्तर्दृष्टियों के निरूपण में उदासीन हो जाता है।

### विरह

जायसी का विरह-वर्णन कहीं-कहीं अत्युक्तिपूर्ण होने पर भी गंभीर्य से भिन्न नहीं है। विरह की मात्रा का आधिक्य सूचित करने के लिये जायसी ने जिस आह्वत्मक या वस्तुव्यंजनात्मक शैली का आश्रय लिया है वहाँ कहने के आधार भूत वस्तु के हेतु कल्पना की ओर ही उनकी अधिक प्रवृत्ति है। विरह ताप के अतिरिक्त उसके अन्य अंगों का विन्यास भी जायसी ने अपनी उनी हृदयहारिणी और व्यापकत्व विधायनी पद्धति से किया है जिसमें बाह्य प्रकृति का मूल आश्रयन्तर जगत् के प्रतिबिम्ब के रूप में चित्रित किया गया है। प्रेमयोगी रतनसेन के विरह-व्यथित हृदय का भाव हम सूर्य, चंद्र, पेड़, पक्षी आदि सबमें देखते हैं—( रोवैं रोवैं वे रात जो फूटे ), नागमती के आँसुओं से सारी सृष्टि ही लिची-सी चित्रित की गई है। आचार्य शुक्ल के मतानुसार नागमती का विरह-वर्णन हिन्दी साहित्य में एक अद्वितीय वस्तु है। नागमती की विरहावस्था वह पवित्र पुण्यदान है जिसमें सभी अह-चेतन अपने सगे-से दिखाई देते हैं। हृदय भी इस उदार और व्यापक दशा का चित्रण कवियों ने प्रेम विरह के प्रसंग में ही किया है, अन्य रसों के प्रसंग में नहीं। यह अह-चेतन पशु-पक्षियों के प्रति सहानुभूति केवल एक पक्ष सामांजस्य ही है, उन्माद नहीं है, दूसरे पक्ष से भी इनमें समवेदना और सहानुभूति प्राप्त होती है। पद्यावली से कहने के लिये नागमती ने जो संदेश भेजा है उसमें मान गर्व आदि का लेश भी नहीं वह अत्यन्त नम्रशील और विशुद्ध प्रेम है।

### सूफीमत

सूफीमत धर्म के क्षेत्र में ऐकान्तिक भगवत्प्रेम का प्रचारक है। उसकी तुलना बहुत-कुछ रागानुगा भक्ति से की जा सकती है। दोनों में इतना

साम्य है कि किसी-किसी पंडित ने रागानुगा कृष्ण-भक्ति को सूफ़ीमत का प्रभाव तक कह दिया। इस मत के अनुसार मनुष्य के चार विभाग हैं:—नफ़स अर्थात् विषयभोग वृत्ति। रुह (आत्मा), कलब (हृदय) और अकल (बुद्धि)। कलब या हृदय एक भूतातीत पदार्थ है, उसी पर दृश्य वस्तु का प्रतिबिम्ब पड़ता है। यद्यपि दृश्य स्थूल वस्तु अनित्य हैं पर उसकी भावना नित्य है कलब पर ही दृश्य वस्तुओं के प्रतिबिम्ब अंकित होते हैं। सूफ़ी लोग स्वयं स्वीकार करते हैं कि उनको बहुत-कुछ भारतीय ज्ञानियों से प्राप्त हुआ है। ऐसा जान पड़ता है कि ये बातें भारतीय योगशास्त्र से मिलती-जुलती हैं। जगत् चार प्रकार के बताए गए हैं—आलमे नासूत (भौतिक जगत्) आलमे मलकूत (चित् जगत्) आलमे अवकूत (द्वितीयातीत आनन्द जगत्) और आलमे में लाहूत (सत् या पारमार्थिक ब्रह्म जगत्)। नासूत मानव-लोक है, मलकूत अदृश्यलोक है, अवकूत (उच्चतम लोक) लाहूत परमलोक है। कुछ सूफ़ी एक और जगत् या लोक की कल्पना करते हैं जिसे आलमे मिशाल या समलोक नाम दिया गया है। इसमें जो पारमार्थिक सत्ता है उस उसके ठीक-ठीक प्रतिबिम्ब के लिये कलब का स्वच्छ होना आवश्यक है। इसके लिये झिक्र (नामस्मरण) और मुराकबत (ध्यान) आवश्यक है।

इस मत के अनुसार साधक की चार अवस्थाएँ हैं—शरीअत (यात शाखसमत वैधमार्ग, तरीक़्त अर्थात् बाह्य क्रिया-कलाप से युक्त होकर केवल हृदय भी शुद्धता द्वारा भगवद्-ध्यान और हकीक़त मारक़्त अर्थात् विधि-निषेध से परे की सिद्धावस्था।

समाधि की अवस्था का नाम हाल है। इसके दो पन्ने हैं। त्याग पन्ने में साधक क्रमशः अपने को जगत् के अन्य पदार्थों से भिन्न समझने का भाव त्याग देता है और धीरे-धीरे उसका अहंभाव नष्ट हो जाता है और उसे प्रेम का नशा छा जाता है। फिर दूसरा पन्ना अर्थात् प्राप्ति का मार्ग आरंभ होता है, प्रथम अवस्था वका होती है जब वह परमात्मा में स्थित होता है, दूसरी बन्द या उल्लासमयी मत्तावस्था आती है और अन्त में पूर्ण शान्ति को प्राप्त करता है।

सूफ़ी काव्यों में नायक का घरबार छोड़कर निकल पड़ना और वियोग की दशा में अपने को समस्त जगत् से अभिन्न देखना प्रथम पद की साधना है और प्रेम की उद्दामता, प्रिय की प्राप्ति और उसके लिये आत्मविषर्जन अन्तिम अवस्था की ।

---

## ३७. मधुररस की साधना

‘मधुर’ नामक भक्तिरस के विचार का उत्थापन करते समय श्रीरूप-गोस्वामी ने भक्तिरसामृतसिन्धु ग्रन्थ में लिखा है ‘आत्मोचित विभावादि-द्वारा मधुरा रति जब सदाशय व्यक्तियों के हृदय में पुष्ट होती है, तब उसे मधुर नामक भक्तिरस कहते हैं। यह रस उन लोग के किसी काम का नहीं जो निवृत्त हों (अर्थात्, जैसा कि जीव गोस्वामी ने ‘निवृत्त’ शब्द का अर्थ किया है, प्राकृत शृंगाररस के साथ इसकी समानता देखकर इन भागवतरस से भी विरक्त हो गए हों); फिर यह रस दुरुद्ध और रहस्यमय भी है; इसलिए यद्यपि यह बहुत चिन्ताल और चितताङ्ग है, तथापि संक्षेप में ही लिख रहा हूँ’ :—

आत्मोचितविभावाद्यैः पुष्टि नीता सतां हृदि ।

मधुरारूपो भवेद् भक्तिरसोऽसौ मधुरा रतिः ॥

निवृत्तानुपयोगित्वाद् दुरुद्धत्वादयं रसः ।

रहस्यत्वाच्च संक्षिप्य चितताङ्गोऽपि लिख्यते ॥

गोस्वामिपाद के इस कथन के बाद दुनियादारी की झुझटों में फंसे हुए किसी भी प्रादश व्यक्ति का इस रस के सम्बन्ध में लिखने का सङ्कल्प ही दुःसाहस है। फिर भी यह दुःसाहस किया जा रहा है, क्योंकि पहले तो गोस्वामि-पाद ने यद्यपि बड़े कौशलपूर्वक इसकी दुरुद्धता की ओर ध्यान आकृष्ट कर दिया है, परन्तु कहीं भी ऐसा संकेत नहीं किया कि इस रस की चर्चा निषिद्ध है दूसरे, भक्तिशास्त्रकारों और अनुरक्त भक्तजनों की चर्चा करते रहने से—ऐसा विधान है—कि पहले अद्धा, फिर रति और फिर भक्ति अनुकमित होती है—

सतां प्रसङ्गान्मम बोधैर्विदो भवन्ति दृशकण्ठमायनः कथा ।

तन्जोषणादाश्चपवर्गवर्त्मनि अद्धा रतिर्भक्तिरनुकमिष्यति ॥

(श्रीमद्भा० ३। २५ २५)

तीसरे, गोस्वामिपाद ने इसे उन लोगों के लिये अनुपयोगी बताया है जो निवृत्त हो अर्थात् इस रस के साथ शृंगार का साम्य देखकर ही विदक गये हों—उन लोगों के लिये नहीं जो शृंगाररस के साथ इसका साम्य देखकर ही इधर आकृष्ट हुए हों। शायी में और इतिहास में ऐसे अनेक भक्त प्रसिद्ध हो गए हैं, जो ग़लती से ही इस रास्ते आ पड़े थे और फिर जीवन का चरम लाभ या लेने में समर्थ हुए थे। कहते हैं, रसखान और घनानन्द इसी प्रकार इस रास्ते आ गये थे, सूरदास और बिल्वमङ्गल ग़लती से ही इधर आ पड़े थे और बाद में वे क्या हो गये—यह जगद्विदित है।

इन पंक्तियों के लेखक के समान ही ऐसे बहुत—से लोग होंगे जो साहित्य-चर्चा के प्रसङ्ग में दिन रात रसादिक स्थायी भावों तथा विभाव-अनुभाव-सञ्चारीभाव और सात्त्विक भावों की चर्चा करते रहते होंगे या कर चुके होंगे। उन लोगों को यह ज्ञान रखना चाहिए कि भक्ति में केवल एक ही स्थायी भाव है—भगवान् विषयक रति या लगन। अकथ्य ही, भक्तों के स्वभाव के अनुसार यह लगन पाँच प्रकार की हो सकती है—शान्त स्वभाव की, दास्य-स्वभाव की, सख्य-स्वभाव की, वात्सल्य-स्वभाव की और मधुर-स्वभाव की। इन पाँचों स्वभावों के अनुसार रति भी पाँच प्रकार की होती है—शान्ता, प्रीता, प्रेयसी, अनुकम्पा और कान्ता। जहाँ तक जड़ जगत् का विषय है, इनमें शान्ता रति सबसे धोष्ठ है और फिर बाकी क्रमशः नीचे पड़ती हुई अन्तिम रति कान्ताविषयक होकर शृंगार नाम ग्रहण करती है। जड़-विषयक होने से यह सबसे निकृष्ट होती है। परन्तु जड़ जगत् है क्या चीज ? नन्ददास ने ठीक ही कहा है कि यह भगवान् की छाया है जो माया के दर्पण में प्रतिकलित हुई है—

या जग की परछाँह री माया दरपन नीच ।

अब अगर दर्पण की परछाँह की जाँच की जाय तो स्पष्ट ही मालूम होगा कि इसमें छाया उल्टी पड़ती है। जो चीज ऊपर होती है, वह नीचे पड़ जाती है और जो नीचे होती है, वह ऊपर दीखती है। ठीक यही अवस्था रति की हुई है। जड़ जगत् में जो सबसे नीचे है, वही भगवद्विषयक होने पर

सबसे ऊपर हो जाती है। यही कारण है कि शृंगाररस जो जड़ जगत् में सब निरुद्ध है, वस्तुतः भगवद्विषयक शृंगार होने पर मधुररस हो जाता है, यद्यपि भक्ति-शास्त्र की मर्यादा के अनुसार इसे शृंगार नहीं कहा जा सकता। केवल ब्रज-सुन्दरियों के लिये शृंगार और मधुर एक रस हैं; क्योंकि उनके लिये काम और प्रेम में भेद नहीं है। भक्तिरसामृतसिन्धु में कहा गया है कि गोप रमणियों का प्रेम ही काम कहा गया है—

प्रेमै भगोपरामाणा काम इत्यगमत् प्रथाम् ।

कारण स्पष्ट है—जड़विषयक अनुराग को 'काम' कहते हैं और भगवद्विषयक अनुराग को 'प्रेम' ब्रज-सुन्दरियों की सारी कामना के विषय 'असमानोर्ध्वसौन्दर्यलीलावैदग्ध्यसम्पदाम्' आभय-स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण से और इसीलिये उनके काम को जड़-विषयक कहा ही नहीं जा सकता। गीतगोविन्द में कहा गया है कि 'हे सखि, जो अनुरंजन के द्वारा समस्त विश्व का आनन्द उरगादन करते हैं, जो इन्द्रीवर-भेषी के समान कोमल श्यामल अङ्गों से अनङ्गोत्तम का विस्तार कर रहे हैं तथा ब्रज-सुन्दरियों द्वारा स्वच्छन्द भाव से जिनका प्रत्येक अङ्ग अलङ्कृत हो रहा है, वही भगवान् मूर्तिमान् शृंगार की भौंति मुग्ध होकर वसन्त-ऋतु में विहार कर रहे हैं—

विश्वेषामनुरंजनेन जनयज्जानन्दमिन्द्रीवर।

भेषीश्यामलकोमलैरुपनयज्जैरनङ्गोत्तमम् ।

स्वच्छन्दं ब्रजसुन्दरीभिरभितः प्रपङ्गमालङ्कितः

शृङ्गारः सखि मूर्तिमान्विममौ मुग्धो हरिः क्रीडति ॥

तो यही भगवान्, जो साक्षात् शृंगार स्वरूप हैं, मधुररस के प्रधान अवलम्बन हैं इनकी प्रियवियों वे परम अद्भुत किशोरियाँ हैं, जो नव-नव उत्कृष्ट माधुरी को आधा-रस्वरूपा हैं, जिनके अंग-प्रत्यंग भगवान् की प्रणय-तरङ्ग से करम्वित हैं और जो रमणरूप से भगवान् का भजन करती हैं—

नवनवधरमाधुरीधुरीणाः

प्रणयतरङ्गकरम्बिताङ्गज्जाः ।

निजरमणतया हरिं भजन्तीः प्रणमत ताः परमाद्भुताः किशोरीः ॥

( भक्तिरसामृतसिन्धु )



इन ब्रज-सुन्दरियों में भी राधारानी सर्वश्रेष्ठ हैं, जिनके लोचन मन्दमत्त चकोरी के लोचनों का चारुता को हर्षण करनेवाले हैं, जिनके परमाह्लादन वदनमण्डल ने पूषिमा के चन्द्र की कमनीय कीर्ति का भी दमन किया है, अविकल कलधौत-स्वर्ण-के समान जिनकी अग-श्री सुरोभित है, जो मधुरिमा की साक्षात् मधुपान्त्री हैं—

मदचकुटचकोरीचारुचाचोरदृष्टि—

वन्दनदमितराकारोद्दिष्टीकान्तकीर्तिः ।

अविकलकलधौतोद्धूतिधौरेयकभी—

मधुरिममधुपान्त्री राजते पश्य राधा ॥

जडादिविषयक शृंगारादि रस के साथ इस अनिर्घचनीय मधुररस का एक और मौलिक अन्तर है। अलंकार-शास्त्रों में विवृत शृंगारादि रस केवल जड़ोन्मुख ही नहीं होते, उनके भाव की स्थिति भी जड़ में ही होती है। अलंकार शास्त्र में बताया गया है कि शृंगारादि रसों के रसादि स्थायी भाव संस्कार रूप से मन में स्थित रहते हैं। यह संस्कार या वासन्या पूर्वजन्मोपाजित भी होती है और इस जन्म की अनुभूति भी हो सकती है। अब आत्मा तो निर्लेप है, उसके साथ पूर्वजन्म के संस्कार तो आ ही नहीं सकते; फिर स्थायी भाव के संस्कार आते कैसे हैं? इसका उत्तर शास्त्रों में इस प्रकार दिया गया है कि आत्मा के साथ सूक्ष्म या लिंग-शरीर भी एक शरीर से दूसरे में संक्रमित होता है। इन सूक्ष्म शरीर में ही पाप-पुण्य आदि के संस्कार रहते हैं। बृहदारण्यक-उपनिषद् में कहा गया है कि यह आत्मा विज्ञान, मन, ओष, पृथ्वी, जल, वायु आकाश, तेजस्, काम, अकाम, क्रोध, अक्रोध, धर्म, और अधर्म इत्यादि सब लेकर निर्गत होता है। यह जैसा करता है, वैसा ही भोगता है—

स वायमान्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः पृथिवीमय आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमयः काममयोऽकाममयः क्रोधमयोऽक्रोधमयो धर्ममयोऽधर्ममयः सर्वमयस्तद्यदेतद्दिदमयोऽदोमय इति

यथाकारी यथाचारी तथा भवति । साधुकारी साधुर्भवति, पापकारी पापो भवति  
पुरयः पुरयेन कर्मणा भवति पापः पापेन ।

( बृहदारण्यक० ४।४।५ )

सांख्यकारिका में कर्मेन्द्र-कर्मीच इन सभी बातों को लिंग-शरीर कहा गया है । बताया गया है कि प्रकृति के तेईस तत्त्वों में से अन्तिम पाँच तो अत्यन्त स्थूल हैं पर बाकी अठारहों तत्त्व सूक्ष्म के समय पुरुष के साथ ही साथ निकल जाते हैं । जब तक पुरुष ज्ञान प्राप्त किये बिना मरता है, तब तक ये तत्त्व उसके साथ लगे होते हैं ( सां० का० ४० ) अब यह स्पष्ट ही है कि प्रथम तेरह अर्थात् बुद्धि, अहंकार, मन और दसो इन्द्रिय प्रकृति के गुणमात्र, अतः सूक्ष्म हैं । उनकी स्थिति के लिये किता स्थूल आधार की ज़रूरत होगी । पञ्चतन्मात्र इसी स्थूल आधार का काम करते हैं उपनिषदों में इसी बात को और तरह से कहा गया है । आत्मा का सबसे ऊपरी आवरण तो यह स्थूल देह है ; इसे उपनिषदों में अक्षमय कोष कहा गया है । दूसरे आवरण क्रमशः अधिक सूक्ष्म हैं, उनमें प्राणमय, ज्ञानमय और आनन्दमय कोष हैं । इसका अर्थ यह हुआ कि स्थूल शरीर की अपेक्षा प्राण सूक्ष्म हैं; उनकी अपेक्षा मन, उसकी अपेक्षा बुद्धि और इन सबसे अधिक सूक्ष्म आत्मा है । भगवान् ने गीता में इसी बात को इस प्रकार कहा है—

इन्द्रियाणि पराण्यादुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।

मनस्तु परं बुद्धिर्बुद्धेः परतस्तु सः ॥

वेदान्तशास्त्र में कई प्रकार से यह बात बताई गई है कहीं इसके सत्रह अवयव बताए गए हैं पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, बुद्धि मन और पाँच प्राण ( वेदान्तसार १३ ) ; फिर आठ पुरियों का उल्लेख है ( सुरेश्वराचार्य का पञ्चीकरणवार्तिक ) जिनमें पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त, पाँच भूतसूक्ष्म ( तन्मात्र ) अविद्या, काम और कर्म है । ऐसे ही और भी कई विधान हैं । इनका शास्त्रकारों ने समन्वय भी किया है ( वेदान्तसार १३ पर विद्वन्मनोरंजनी टीका ) । यहाँ प्रकृत यह है कि स्थायी भावों के संस्कार

इसी लिङ्ग-शरीर में हो सकते हैं। वह चूँकि जड़ है, इसलिये उसकी प्रवृत्ति जड़ोन्मुख होती है। अलंकारशास्त्रों में यह बार-बार-समझाया गया है कि रस न तो कार्य है और न शब्द। क्योंकि कार्य होता तो विभवादि के नष्ट होने पर नष्ट नहीं हो जाता, कारण के नष्ट होने से कार्य का नष्ट होना नहीं देखा जाता—स च न कार्यः, विभावादि विनाशेऽपि तस्य सम्भवप्रसङ्गात् ( काव्य-प्रकाश ४४ उल्लास ) परन्तु मधुररस आत्मा का धर्म है, यह स्थूल जड़ जगत् की वस्तु नहीं है उसके विभावादि, का कभी विलय नहीं होता, इसलिये उसके लिये सम्भावसम्भव प्रसङ्ग उठता ही नहीं।

रस कई प्रकार के हैं। सबसे स्थूल है अज्ञमय कोष का आस्वाद्य रस। रसनादि इन्द्रियों से उपभोग्य रस अत्यन्त स्थूल और विकारप्रवण है। इससे भी अधिक सूक्ष्म है मानसिक रस अर्थात् जो रस मनन या चिन्तन से आस्वाद्य है। इससे भी अधिक सूक्ष्म है विज्ञानमय रस, जो बुद्धि द्वारा आस्वाद्य है; पर यह भी जितना भी सूक्ष्म क्यों न हो, सूक्ष्मतम आनन्दमय रस के निकट अत्यन्त स्थूल है आत्मा जिस रस का अनुभव करता है, वही सर्वश्रेष्ठ भक्ति-रस है, जिसका नाना स्वभावों के भक्त नाना भाव से आस्वादन करते हैं। मधुररस उसीका सर्वश्रेष्ठ स्वरूप है। स्पष्ट ही है कि इसकी ठोक-ठीक धारण इन्द्रियों से तो हो ही नहीं सकती, मन और बुद्धि से भी नहीं हो सकती। वह न तो चिन्तन का विषय है, न बोध का। यह अलौकिक है। इसीलिये भक्तिशास्त्र ने इसके अधिकारी होने के लिये बहुत ही कठोर साधना का उपदेश किया है। रूप गोस्वामी ने इसीलिये इसे दुरूह कहा है। श्रीचैतन्य महाप्रभु कहते हैं—  
तृण से भी सुनोच होकर, वृक्ष की अपेक्षा भी सहनशील बनकर, मान त्याग-कर, दूसरे को सम्मान देकर ही हरि की सेवा की जा सकती है—

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना ।

अमानिता मानदेन सेवितव्यः सदा हरिः ॥

इन्द्रिय, मन और बुद्धि का सम्पूर्ण निग्रह और वशीकरण जबतक न हो जाय, तब तक इस सुकुमार भक्तिक्षेत्र में आने का अधिकार नहीं मिलता। लोक-परलोक के विविध भोगों की और मोक्ष सुख की कामना जब तक सर्वथा

नहीं मिट जाती, तबतक इस मधुर प्रेम-राज्य की सीमा के अन्दर प्रवेश ही नहीं हो सकता। इसीसे यह सिद्धान्त बतलाया गया है—

भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते ।

तावत् प्रेमसुखम्यात्र कथमभ्युदयो भवेत् ॥

जबतक भोग और मोक्ष की पिशाचिनी इच्छा हृदय में वर्तमान है, तब तक प्रेम-सुख का उदय कैसे हो सकता है ?

श्रीमद्भागवत में कहा गया है—अवत् शास्त्रों में आसक्ति, जीविकोपार्जन, तर्कवादपक्षाभयया, शिष्यानुबन्ध, बहुग्रन्थाभ्यास, व्याख्योपयोग, महान् आरम्भ ये सब भक्ति चाहने वालों के लिये वर्जित हैं—

नासच्छास्त्रेषु सज्जेत नोपजीवेत् जीविकाम् ।

बादधादास्यजेत्तर्कान् पक्षं कं च न संभयेत् ॥

न शिष्याननुचरणीत ग्रन्थास्त्रैवाभ्यसेद्बहून् ।

न व्याख्यामुपयुञ्जीत नारम्भानारभेत् क्वचित् ॥

( श्रीमद्भा० ७ । ११ । १-७ )

इन बाधा के लिये शास्त्रकारों ने बहुत से उपाय बताए हैं, जो न तो इस क्षुद्र प्रयत्न में बताए ही जा सकते और न वे अनधिकारी लेखनी के साध्य के विषय ही हैं। इसीलिये इन चर्चा को और आगे नहीं बढ़ाया जा रहा है। जब सारा अभिमान और अहंकार दूर हो जायगा, ज्ञान और पाण्डित्य शान्त हो रहेंगे, तब वह परमाराध्य जिसकी नर्त्यमान भूलता कर्णाग्रभाग भूलता के कारण मुलश्री अत्यन्त मधुर हो उठी है, जिसका कर्णाग्रभाग अशोककलिका से विभूषित है, ऐसा कोई नवीन निकषा-प्रस्तर के समान वेश्यालाला किशोर वंशी-रस से मग्न और बुद्धि को बेवस कर डालेगा—

भ्रूललितारहवकलामधुराननश्रीः कङ्कलिकोरककरमितकणपूरः ।

कोऽयं नवीननिकषोपलतुल्यवेषो वंशीरवेष सखि मामवशीकरोति ॥

## परिशिष्ट

सर आर्थेल्स्टेल वेन्स ने बड़े योग्यतापूर्वक पूर्व के अध्ययनों और सेन्सस रिपोर्टों के आधार पर जातिभेद की समस्या की जाँच की थी। उन्होंने सेन्सस के तीन हजार से ऊपर जाने वाली जातियों को लगभग ५०० भाटे विभागों में बाँटा है। वेन्स के इस विभाजन में एक विशेषता यह है कि उसे साधारण पाठक बिना किसी वैज्ञानिक विवाद में पड़े आसानी से समझ सकता है। वेन्स ने चेहरों के भाव आदि की वैज्ञानिक विवेचना भी की है। यहाँ पाठकों की सुविधा के लिये वेन्स द्वारा विभाजित जाति सूची दी जा रही है। भारत-विभाजन के बाद इस देश की जातियों में बढ़ा भारी विलोभ हुआ है और बहुत-सी जातियों को सामूहिक रूप में स्थानान्तरित होना पड़ा है।

सर आर्थेल्स्टेल ने समूची भारतीय जनता को सात बड़े-बड़े विभागों में बाँटा है। ये सात भाग इस प्रकार हैं :—

१—विशेष श्रेणी [ इनके नाम आगे की तालिका में १ से ४३ तक दिये गये हैं। ]

२—ग्राम-समाज [ इनके नाम आगे की तालिका में ४४ से २६३ तक दिये गये हैं। ]

३—गोण पेशा आले [ इनके नाम की तालिका २६४ में २६६ तक दी गयी है। ]

४—शहरी जातियाँ [ इनके नाम की तालिका २६७ से ३४२ तक दी गयी है। ]

५—खानाबदोश जातियाँ [ इनके नाम ३४३ से ३६७ तक दिये गये हैं। ]

६—पहाड़ी जातियाँ [ इनके नाम ३६८ से ४६४ तक दिये गये हैं। ]

७—मुस्लिम जातियों की उपाधियाँ [ इनके नाम सूची में छोड़ दिये गये हैं। इनमें अरब, शेख, सैय्यद, तुर्क, मुघल, पठान, बलूच और ब्राह्मण हैं। ]

सर आथेल्स्टेन की कई तालिकाओं के आधार पर आगे वाली तालिका बनायी गयी है। पर स्थान-स्थान पर आधुनिक जानकारी और व्यक्तिगत अभिरूपा के बल पर कुछ थोड़ा-थोड़ा परिवर्तन भी कर दिया गया है। फिर भी यथामग्न्य सर आथेल्स्टेन के विचारों की ही प्रधान स्थान दिया गया है।

श्रेणीका नाम	क्रम संख्या	जाति का नाम	उसका प्रदेश	जन संख्या
प्राक्कण	१			१,४८६,३३००
राजपूत	२			१,००४,०८००
व्यवसायी	३	अनिया (साधारण) दक्षिण के सिवा		३,१६३,३००
		सर्वत्र		
	४	अमवाल	सुक्तप्रान्त	५५,७६००
	५	अमहारी	आगरा	६२०००
	६	श्रीमाली	पश्चिम भारत	२२७,१००
	७	पोरवाल	राजस्थान	७५,०००
	८	ओलवाल	पश्चिम	३८२,३००
	९	हूम्यर	पश्चिम	६०,७००
	१०	खत्री	पञ्जाब	५८५,०००
	११	अरौरा	पश्चिम पञ्जाब	७३,०१००
	१२	भाटिया	पश्चिम भारत	६०,६००
	१३	लोहाना	सिन्ध	५,७२,८००
	१४	मुवर्गु बखिक्	बङ्गाल	१,५४,८००
	१५	बखिज	तिलंगाना	५,३४,७००
	१६	कोमट्टी	तिलंगाना	६५,६३,००
	१७	अजिग	कर्नाटक	१७,३४,००
	१८	बहुग	तिलंगाना	६५,६००
	१९	चेष्टी	सामिल	३२,००००
	२०	खोजा	पश्चिम भारत	१,५५,३,०००

श्रेणीका नाम	कृत संख्या	जाति का नाम	उसका प्रदेश	अनसख्या
लेखक	२१	मेमान	पश्चिम भारत	११२१०००
	२२	बोहरा	पश्चिम भारत	१७७३००
	२३	लब्धई	दक्षिणपूर्व बिनारा	४२६३००
	२४	मापिल	मालाबार	६२५२००
	२५	जोनकन	मालाबार	१००३००
	२६	खत्री	पञ्जाब	१३८०००
	२७	कायस्थ	उत्तर भारत-बङ्गाल	२१४६३००
	२८	प्रभु	पश्चिम	२८८००
	२९	ब्रह्म क्षत्रिय	गुजरात	४२००
	३०	करन महन्त	उड़ीसा	१६५०००
	३१	कराकन	तामिल	६३०००
	३२	करणाम्	तिलगाना	४२८००
	३३	विधूर	मध्यप्रदेश, दक्षिण	३६२००
	३४	वैद्य	बङ्गाल	६००००
धार्मिक, साधु	३५	शांसाई	सर्वत्र (दक्षिण के सिवा)	१५२६००
	३६	धैरागी	सर्वत्र	७६५२००
	३७	अतीत	उत्तर भारत	१५१८००
	३८	साधु	पश्चिम	६७८००
	३९	जोगी	उत्तर भारत	२१२५००
	४०	फकीर	उत्तर भारत	१२१२६००
	४१	आण्डी	तामिल	१०१४००
	४२	दासरी	तिलगाना	४८३००
	४३	पानिसवन	तामिल	१३७००
जमींदार, सैनिक आदि	४४	जाट	पञ्जाब, आगरा राजपूताना	७०८६१००
	४५	गुजर	पञ्जाब, आगरा, राजपूताना	

श्रेणीका नाम	क्रम संख्या	जाति का नाम	उत्सका प्रदेश	जनसंख्या
	४६	अवान	पञ्जाब	६८६०००
	४७	खोखलर	पञ्जाब	११७५००
	४८	गक्खड़	पञ्जाब	३००००
	४९	काटी	पश्चिम	२७४००
	५०	मुमरो	सिन्ध	१२४१००
	५१	सम्भी	सिन्ध	७९३८००
	५२	तागा	आगरा	१६५३००
	५३	बाभन भुइहार	उत्तर भारत, बिहार	१३५३३००
	५४	राजबशी-कोच	आसाम, धुबाल	२४०८७००
	५५	आहोम	आसाम	१७८०००
	५६		उड़ीसा	७२०३००
	५७	मराठा	महाराष्ट्र	५०२६३००
	५८	राजू	तिलंगाना	११३५००
	५९	बेहम	तिलंगाना	५१९९००
	६०	कलन	तामिल	४९४६००
	६१	मारवान	मालाबार	३५०००००
	६२	आममुडयन	तामिल	३१८६००
	६३	नायर	मालाबार	१०४६७००
	६४	कोडगु	कुर्ग	३६२००
फिलान	६५	कम्नी	पञ्जाब	१८३६००
	६६	मेव	राजपूताना, पञ्जाब	३९५०००
	६७	ठाकर	पञ्जाब की पहाड़ी	१०२२००
	६८	राठी	पञ्जाब की पहाड़ी	३९३००
	६९	राउत	पञ्जाब की पहाड़ी	८१९००
	७०	गिरथ	पञ्जाब की पहाड़ी	१७०१००
	७१	कनैत	पञ्जाब की पहाड़ी	३८६९००



श्रेणी का नाम	क्रमसंख्या	जाति का नाम	उसका प्रदेश	जनसंख्या
	७२	कुरमी	उत्तर भारत	३८७३६००
	७३	कोइरी	युक्तप्रान्त, बिहार	१७८४०००
	७४	लोधा	उत्तर भारत	१६६३४००
	७५	किसान	युक्तप्रान्त, मध्यप्रान्त	४४२७००
	७६	काबर	मध्यप्रान्त	१८६१००
	७७	कोलता	मध्यप्रान्त	१२७४००
	७८	किराद	उत्तर भारत	१६६७००
	७९	फसिता	आसाम	२०३४००
	८०	हलावाई-दास	आसाम	२६२००
	८१	कैथरी	बङ्गाल	२६६५१००
	८२	सद्गोप	बङ्गाल	५७९८००
	८३	चासा	बङ्गाल, उड़ीसा	८७०५००
	८४	गंगौता	बिहार	८२६००
	८५	पोद	बङ्गाल	४३४९००
	८६	नमःशूद्र	बङ्गाल	८०३१७००
	८७	कुनबी	दक्षिण, पश्चिम	२७०००००
	८८	कण्ठाथी	पश्चिम भारत	१३५०६००
	८९	कोलो	पश्चिम भारत	२४७७६००
	९०	वकसिंग	कर्नाटक	१३९२४००
	९१	सिंगावत	कर्नाटक	२६१२३००
	९२	नंचमशाले	कर्नाटक	४३११००
	९३	चतुर्थ	कर्नाटक	१११६००
	९४	थण्ट	कर्नाटक	१२०६००
	९५	गौड	कर्नाटक	१६२५००
	९६	काण्ठु-रेड्डी	तिलंगाना	३११०२००
	९७	कम्म	तिलंगाना	६७४४००

श्रेणी का नाम	क्रमसंख्या	जाति का नाम	उत्सका प्रदेश	जनसंख्या
माली आदि	६८	तेलग	तिलंगाना	६४४२००
	६९	कालिंगी	तिलंगाना	१२६६००
	१००	तोत्तियन	कर्नाटक	१५१०००
	१०१	वेल्हालन	तामिल	२४६६६००
	१०२	नत्तमान	तामिल	१५१३००
	१०३	वरई	सर्वत्र (दक्षिण के सिवा)	५४५६००
	१०४	सेनाइ कुट्टुव्यान	तामिल	२६३००
	१०५	कोटिकलल	तामिल	६००००
	१०६	अराइन	पंजाब	१०२६५००
	१०७	मालियर	पंजाब	१५६६००
	१०८	माला	सर्वत्र (दक्षिण के सिवा)	१६४८६००
	१०९	काछा	उत्तर और मध्य भारत	१२६०२००
	११०	मुराव	उत्तर भारत	६६२६००
	१११	सैनी	पंजाब	२००५००
	११२	तिगल	दक्षिणात्य	६८८००
पशुपाल	११३	अहीर	उत्तर और मध्य भारत	६८४१६००
	११४	गोआला-गोल्ला	उत्तर भारत बंगाल	१३५७८००
	११५	गौर	बंगाल	४३१६००
	११६	खारी	राजपूताना	२५३६००
	११७	घोसा	उत्तर भारत	५८५००
	११८	कन्नाडियन	तामिल	२०५००
	११९	कम्मालन	तामिल	६४४६००
कला-कौशल वाले	१२०	कम्मल	तिलंगाना	२६५५००
	१२१	पंचाल	कर्नाटक	३२३८००
	१२२	सोनार	सर्वत्र (दक्षिण भिन्न)	१२७१८००
	१२३	नियारिग	उत्तर पश्चिम	१८७००

श्रेणी का नाम	क्रमसंख्या	धार्मिक नाम	उसका प्रदेश	जनसंख्या
शुनने वाले	१२४	तरखाण	पंजाब	७५,८५००
	१२५	बढ़ई	उत्तर भारत	२१३३१००
	१२६	सुतार-कुतोर	बंगाल	५८११००
	१२७	खाटी	उत्तर भारत	२१६,८००
	१२८	लोहार सर्वत्र (दक्षिण भिन्न)		१६०५१००
	१२९	कामार	बंगाल	७५,७२००
	१३०	राज-भीमार	उत्तर भारत	२६०००
	१३१	थावी	पंजाब पहाड़ियों	२३००
	१३२	गौरडी	दक्षिणात्य	८७००
	१३३	काडीग्रो	पश्चिम	१४८००
	१३४	कसेरा सर्वत्र (दक्षिण के सिवा)		१३८६००
	१३५	टंडेरा	उत्तर भारत	५,७८००
	१३६	ताम्यठ	पश्चिम	१,०४००
	१३७	पटनूली	पश्चिम	६०५००
	१३८	पटवे	उत्तर मध्य भारत	७२०००
	१३९	खत्री	पश्चिम भारत	५,६०००
	१४०	तोती	बंगाल	७७२३००
	१४१	तैंतवा	बिहार	१६७६००
	१४२	पेरिके	तामिल	६३०००
	१४३	जणप्पन	तामिल	८३०००
	१४४	कपाली	बंगाल	१,४४७००
	१४५	धौर	दक्षिणात्य	२,४४००
	१४६	पांका	मध्य भारत	७२६७००
	१४७	गांडा	पूर्व, मध्य भारत	२७७८००
	१४८	बोम्बा	बिहार	७६४००
	१४९	कोरी	उत्तर भारत	१२०४७००

क्षेत्री का नाम	कमसंख्या	जाति का नाम	उसका प्रदेश	जनसंख्या
	१५०	जुलाहा	उत्तर भारत	२६०७६००
	१५१	बलाही	राजपूताना उत्तर भारत	५८५१००
	१५२	कैकोलन	तामिल	३५८७००
	१५३	माले	दक्षिणान्य	६३६३००
	१५४	तोगट	कर्नाटक	६८५००
	१५५	देनांग	कर्नाटक	२८८६००
	१५६	नयिगे	कर्नाटक	६७०००
	१५७	जुगी	बंगाल	५३६६००
	१५८	कोष्टी	दक्षिण, मध्य भारत	२७७४०
तेल निकालने वाले	१५९	तेली-बानचा, मर्यात्र (दक्षिणके सिवा)		८०६०३००
	१६०	कलु	बंगाल	१५८६००
	१६१	वाणियन	तामिल	१८७५००
	१६२	गण्णिरा	कर्नाटक	११४६०६
पात्र-निर्माता	१६३	कुम्हार	उत्तर भारत	३३७६३००
	१६४	कुशवन्	तामिल	१४५५००
नाई	१६५	नाई-न्हावी, सर्वत्र (दक्षिणके सिवा)		२४५८४००
	१६६	हजाम (मुस्लिम)	(दक्षिण के सिवा)	५३४३००
	१६७	अम्बडन	तामिल	२१६७००
	१६८	मारयान	मालाबार	८८००
	१६९	मंगल	तिलंगाना	२७७६००
	१७०	भंडारी	उड़ीसा	१२०३००
कपड़े धोने वाले	१७१	धीत्री-परीत, सर्वत्र (दक्षिणके सिवा)		२०१६६००
	१७२	वराणान	तामिल	२५३२००
	१७३	वेलुत्ते डन	मालाबार	२४५००
	१७४	आगस	कर्नाटक	१२२२००
	१७५	चाकल	तिलंगाना	४७०८००

श्रेणीका नाम	क्रम सं०	जातिका नाम	उसका प्रदेश	जन संख्या
मछुए-माझो आदि	१७६	मल्लाह (सा०)	बंगाल-बिहार	७२१६००
	१७७	पाटर्ना	बंगाल	६३७००
	१७८	तिथर	बङ्गाल	२७०६००
	१७९	माली	बङ्गाल	२४६६००
	१८०	केयट	उत्तर भारत	११०८००
	१८१	कहार	उत्तर भारत	१६७०८००
	१८२	धोमर	उत्तर मध्य भारत	२६१२००
	१८३	झीनथर	पञ्जाब	४७७७००
	१८४	माछी	पञ्जाब	२८८६००
	१८५	मोतानो	सिंध	११३१००
	१८६	भोई	दक्षिण, पश्चिम	१६६८००
	१८७	गोया	तिलङ्गाना	५३०४००
	१८८	पल्ले	तिलङ्गाना	१५००००
	१८९	बेस्ता	तिलङ्गाना	२३०४००
	१९०	कम्बेर अम्बिका	तिलङ्गाना	७६५००
	१९१	मोगेर	कनाडा	३८२००
	१९२	मुक्कुवन	मालाबार	२०४००
	१९३	शेम्बडवन	तामिल	५१७००
चूना, परथर, नमक के कार्यकर्ता	१९४	बिन्द	बिहार, अवध	२१६७००
	१९५	चैन	बिहार, अवध	१५८६००
	१९६	गोट्टी	बिहार, अवध	१६५२००
	१९७	लूनिया, बुनिया	उत्तर भारत	८०७४००
	१९८	खारोल	राजपूताना	१२७००
	१९९	मेवार	राजपूताना	१४४००
	२००	खारवी	पश्चिम	५००००
	२०१	आग्रिया	आगरा, पश्चिमी किनारा	२७०४००

श्री सीका नाम	क्रम सं०	जातिका नाम	उत्सका प्रदेश	जन संख्या
ताड़ीवाले	२०२	उप्पार	कर्नाटक	१६००००
	२०३	उप्पिलियन	मालाबार	४३७००
	२०४	पाथरवट	दक्षिण	२३४००
	२०५	भैती-चूनारी	बङ्गाल	१८२००
	२०६	पाभा	युक्तप्रान्त, बिहार	१,४०८४००
	२०७	भङ्गारी	पश्चिम घाट	१७६०००
	२०८	पाइक	कनाडा	८०६०००
	२०९	त्रिल्लय	कनाडा	१४५,६००
	२१०	तियॉ	मालाबार	५,८००००
	२११	तण्डान	मालाबार	१६०००
	२१२	ईलावन	मालाबार	७६,११००
	२१३	शान्गन	तामिल	७५,६३००
	२१४	ईङ्किग	तिल्लुना	३३,७४००
	२१५	गौएडल	तिल्लुना	३६,१५,००
	२१६	सेगिडि	उड़ीसा	५,६७००
	२१७	यात	उड़ीसा	५,२७००
खोत, मजूर	२१८	धानुक	आगरा, राजपूताना	८०४२००
	२१९	आरल	आगरा, राजपूताना	७६,४००
	२२०	भुंडिया-ओडिया	पश्चिम	११०२००
	२२१	दुबला-तलमिया	पश्चिम	१४,१८००
	२२२	आगदी	बङ्गाल	१०४,२५,००
	२२३	बउरी	बङ्गाल	७०,५६,००
	२२४	रजवार	बङ्गाल	१६,६४,००
	२२५	मुलहर	युक्तप्रान्त, बिहार	६६,४७,००
	२२६	मर	बिहार	४५,८५,००
	२२७	धाकर	राजपूताना	१२,५७,००

श्रेणी का नाम	क्रम सं०	जाति का नाम	उसका प्रदेश	जन संख्या
	२२८	पल्लि	तामिल	२५७२३००
	२२९	पल्लन	मालावार	८३६५००
	२३०	पुलय	मालावार	{ ५२४५००
	२३१	चेरमन		
	२३२	पराइयम	तामिल	२२५८६००
	२३३	माल	तिलगाना	१८६३६००
	२३४	हालेया	कर्नाटक	८६६२००
	२३५	महार	महाराष्ट्र	२५६१६००
	२३६	डेङ्ग	पश्चिम	३७८८००
चमड़े के कामवाले	२३७	चमार	सर्वत्र (दक्षिण के सिवा)	१११७६७००
	२३८	मेघ	पञ्जाब पहाड़ियाँ	१४०५००
	२३९	दागी	पञ्जाब पहाड़ियाँ	१५४७००
	२४०	मादिग	तिलगाना	१२८१२००
	२४१	मांग	दक्षिणान्तर	५७६६००
	२४२	राक्किलियन	तामिल	४८७५००
	२४३	मोची	सर्वत्र (दक्षिण के सिवा)	१००७८००
	२४४	बाभी	राजपूताना	२०००००
चौकादार	२४५	बरेवाला	पञ्जाब	१०१७००
	२४६	घटवाल	ब्रह्माल, बिहार	८८८००
	२४७	फंडा	उड़ीसा	१५१५००
	२४८	अम्बलकारन	तामिल	१६२५००
	२४९	मुश्राच	तिलगाना	३२६१००
	२५०	लंगार	मध्य भारत	११३७००
	२५१	मीना	राजपूताना	५८१६००
	२५२	दुसाध	मुक्तप्रान्त, बिहार	१२५८२००
	२५३	माल	ब्रह्माल	१४५७००

अंगी का नाम	कम सं०	जाति का नाम	उसका प्रदेश	जम सख्या
	२५४	बेरड-बेडर	कर्नाटक	६८६०००
	२५५	रामोशी	द्राक्षिणान्त्य	६०८००
सफाई करनेवाले	२५६	भुङ्गी मेहनत सर्वत्र (दक्षिण के सिवा)		८३६५००
	२५७	बुहड़ा	पञ्जाब	१३२६४००
	२५८	मज्जी	पञ्जाब	३८०००
	२५९	भुङ्गमाली	बङ्गाल-आसाम	१३१६००
	२६०	हांडी, काश्मीर	बङ्गाल	३०६५००
	२६१	हड्डी	उड़ीसा	२८१००
	२६२	डोम	उत्तर, मध्यभारत	८५५६००
	२६३	धासिया	गङ्गा की घाटी	११६३००
	२६४	भाट	उत्तर और पश्चिम भारत	३७७७००
घन्टी, भाट आदि	२६५	भाट राजू	तिलगाना	२८०००
	२६६	राजभाट	बङ्गाल	११२००
	२६७	धारण	पश्चिम	७८०००
	२६८	भीरामी-डूम	पञ्जाब	२६१६००
ज्योतिष के व्यवसायी	२६९	जोशी	सर्वत्र (दक्षिण-भित्त)	८३७००
	२७०	डाकौट	युक्तप्रान्त	१५६००
	२७१	गणक	आसाम	२०५००
	२७२	काशिशान	मालावार	१५७००
	२७३	पाशन्	मालावार	३३३००
	२७४	बेलन्	मालावार	२७७००
	२७५	गरपगारी	मध्यप्रान्त	८८००
मन्दिर-पुजारी	२७६	पुजारी	पञ्जाब	८८०
	२७७	भोजकी	पञ्जाब	१०७०
	२७८	भोजक	राजपूताना	१२००



श्रेणीका नाम	क्रम सं०	जातिका नाम	वसका प्रदेश	जन संख्या
	२७६	सेवक	राजपूताना	६८००
	२८०	पंडागम	तामिल	६८६००
	२८१	यल्लुधन	तामिल	८५३००
	२८२	तयल	तिलंगाना	३८००
	२८३	जङ्गम	कर्नाटक	४०५०००
	२८४	गारुडा	पश्चिम	२०१००
	२८५	भराई	पञ्जाब	६६०००
	२८६	उलम	पञ्जाब	३६२००
मन्दिर-मेयक	२८७	कुलागी	दक्षिणान्य	१५३००
	२८८	हुगार		
	२८९	गुराष	दक्षिणान्य	६४०००
	२९०	गारी	उत्तर भारत	८६६००
	२९१	सातानी	तिलंगाना	७७४००
	२९२	देवादिग	तिलंगाना	२३८००
नृत्य-गान के पेशावाले	२९३	वेमिया-कञ्चन	उत्तर भारत	५७७००
	२९४	कलावन्त	पश्चिम	२००००
	२९५	दासी-देवाली	तिलंगाना-कर्नाटक	२५३००
	२९६	योगम	तिलंगाना-कर्नाटक	३२६००
गन्ध-नाचल आदि के पेशेवाले	२९७	अत्तारी	उत्तर मध्य भारत	५६००
	२९८	गन्धधणिक	बङ्गाल	१८११००
	२९९	कामौधन	युक्तप्रान्त	६६७००
	३००	कासरवानी	युक्तप्रान्त	७६७००
	३०१	गांधी	गुजरात, दक्षिणान्य	३७००
	३०२	कुञ्जडा	उत्तर भारत	२८५४००
	३०३	तंगोली	सर्वत्र (दक्षिणके सिवा)	२०६५००

श्रेणी का नाम	क्रम सं०	जातिका नाम	उत्सका प्रदेश	जन संख्या
भूजना पीसना	३०४	भट्टभूजा	उत्तर भारत	३५६५००
मिष्टान्न वाले	३०५	भट्टियारा	प० पञ्जाब	५८५००
	३०६	कांदू	सर्वत्र (दक्षिणके सिवा)	६६७६००
	३०७	हलवाई	उत्तर, पूर्व भारत	२६००००
	३०८	मयरा	बंगाल	१४६२००
	३०९	गोदिया-गूदिया	बंगाल-उड़ीसा	१५०६००
कसाई	३१०	कसाय	उत्तर भारत	३७६५००
	३११	क्याटिक	उत्तर और पश्चिम	६३२३००
दिमानी खादि	३१२	दिमानी	पञ्जाब, युक्तप्रान्त	३६००
	३१३	रमैय्या	पञ्जाब	५६००
	३१४	मनिहार	उत्तर भारत	१०२३००
	३१५	चूड़ीहार	उत्तर मध्यभाग	५५५००
	३१६	काश्दार	उत्तर मध्यभारत	१६१००
	३१७	लाम्बेडा	उत्तर भारत	६०१००
	३१८	गाजुल	तिरुंगाना	१०२०००
	३१९	पात्रा	उड़ीसा	६१४००
	३२०	मग्वारी	बंगाल	१४८००
बन्ना, पोशाक आदि	३२१	टरजी	सर्वत्र	८३१००
के विशेष कौशल	३२२	मिमरी	दक्षिणाल्य	३६८००
जानने वाले	३२३	छोपी	उत्तर भारत	२६६४००
	३२४	भौमार	पश्चिम	३८२००
	३२५	रगरेज	सर्वत्र (दक्षिणके सिवा)	१३७०००
	३२६	नीलारी	उत्तर भारत	४८३००
	३२७	गलियारा	पश्चिम	११००
रई धुनने वाले	३२८	पिंजारी	पश्चिम	५०८००
	३२९	बेहना	उत्तर भारत	३६२५००

श्रेणी का नाम	क्रम सं०	जातिका नाम	उसका प्रदेश	जन संख्या
मश-धिकांता	३३०	जुनिया	उत्तर भारत	२७२८००
	३३१	दूदेकुल	तिरुंगाना	२८५००
	३३२	मूड़ी	बंगाल	७२४८००
	३३३	साहा		
	३३४	फलाल-बलवार		
घरलू-भृत्य	३३५	भिरनी	उत्तर मध्य भारत	१०७५००
	३३६	गोला	पश्चिम और उत्तर	३०७००
	३३७	कूटा	उत्तर भारत	६४००
	३३८	चाकर	राजपूताना	१०३६००
	३३९	खयाम	पश्चिम भारत	३०६००
	३४०	राहू	बंगाल	२८५०००
	३४१	शारिर्द पैशा	उड़ीसा	८७१००
	३४२	परिवारम्	तामिल	१८६००
माल दौनेवाले	३४३	बनजारा	उत्तर और मध्यम	८६६४००
	३४४	लवाना	सर्वत्र (पूर्वी भारत के सिवा)	३८६५००
	३४५	थोरी	पञ्जाब	४१८००
	३४६	पेंदारी	महाराष्ट्र, कर्नाटक	१०१००
मेढ़ और ऊन के कामवाले	३४७	गड्डी	पञ्जाब	१०३८००
	३४८	गड़रिया	उत्तर भारत	१२७२४००
	३४९	भङ्गर-हातकर	दक्षिणात्य	१०१५८००
	३५०	कुडुवर	दक्षिण भारत	१०६८०००
	३५१	इडइयन	तामिल	७०२७००
	३५२	भरवाड	पश्चिम	१०२६००
	३५३	ओड-बडुर	सर्वत्र (पूर्व के सिवा)	६०३१००
	३५४	वेलदार	उत्तर-मध्य-भारत	२१४७००

श्रेणी का नाम	क्रमसंख्या	जाति का नाम	उसका प्रदेश	जनसंख्या
चाकू के काम वाले	३५५	कोडा-खैरा	बङ्गाल-बिहार	१६६५००
	३५६	शिकलीगर	उत्तर और पश्चिम	२००००
	३५७	बिमाड़ी	दाक्षिणात्य	८८००
	३५८	खुमरा	उत्तर भारत	११००
	३५९	टाकरी	दाक्षिणात्य	६५०००
नाम के काम वाले	३६०	तुड़ी-तूदी	बङ्गाल	६८०००
	३६१	बसोर-बंसफोरा	उत्तर और पश्चिम	९६०००
	३६२	युलद मेदाग	महाराष्ट्र-कर्णाट	८३६००
	३६३	धगकर	युक्तप्रान्त, राजपूताना	४३५००
	३६४	कंजर-कंजड़	उत्तर भारत	३६०००
चटार्ह, चंगेली वाले	३६५	कुड़थान-कोग्च	तिलंगाना	२३६८००
	३६६	येरुफल	तिलंगाना	६५५००
	३६७	फैकाड़ी	महाराष्ट्र	१८२००
	३६८	बहुरुपिया	पञ्जाब, उत्तरभारत	३६००
	३६९	भाँड़	पञ्जाब, उत्तरभारत	१०६००
रूप-जीवा	३७०	भवाईओं	पश्चिम	६०००
	३७१	गोधली	दाक्षिणात्य	२०५००
	३७२	डफाली	आगरा, बिहार	५०२००
	३७३	नगरची	उत्तर भारत	२०६००
राजा बजानेवाले	३७४	दोली	पश्चिम	४३७००
	३७५	बजनिया	पश्चिम	१४४००
	३७६	तुराहा	ब्रंगाल	७७३००
	३७७	नट	उत्तर भारत	१६२३००
मदारी आदि	३७८	ब्राजोगर	उत्तर भारत	२००००
	३७९	डीम्बर-कोल्हाटी, दाक्षिणात्य		३९४००
	३८०	गोपाल	दाक्षिणात्य	७१००

श्रेणी का नाम	क्रम सं०	जाति का नाम	उसका प्रदेश	जन संख्या
नौथी जीर्वा	३८१	नागरिया	मध्य भारत	३०६००
	३८२	वेदिया	उत्तर भारत	५७५००
	३८३	संसिया	पंजाब	३४७००
	३८४	हवूरा	उत्तर भारत	४३००
	३८५	भामतिया-उधली	उत्तर भारत	६१००
	३८६	भयरिया	उत्तर भारत	३०३००
	३८७	मोधिया		
	३८८	अहोरिया	पंजाब, युक्तप्रान्त	३५६००
	३८९	वहेलिया	पंजाब, युक्तप्रान्त	५३६००
	३९०	महतम	पंजाब, युक्तप्रान्त	८२६००
	३९१	सहरिया	मध्य भारत	१३६४००
	३९२	बापरी	मध्य भारत	११४०००
	३९३	पारधी	दक्षिणात्य	३२०००
	३९४	वेडन	तामिल	२५५००
	३९५	बलाम्यन्	तामिल	३८३०००
	३९६	केट्टुवन	तामिल	७६६००
	३९७	कुरिच्चन	मालाबार	६६००
मध्य कटिबंध	३९८	कोल	मध्य प्रान्त	२९६०००
श्री पताङ्गी जातिधर्मा	३९९	हो	बङ्गाल	३८५१००
	४००	मुंडा	बंगाल, बिहार	६६६७००
	४०१	भूमिज	बंगाल	३७०२००
	४०२	भुइया	बंगाल मध्य०	७८६१००
	४०३	खरवार	बंगाल	१३६६००
	४०४	बेगा	मध्य प्रान्त	३३६००
	४०५	चेरु	बंगाल	३०२००
	४०६	खरिया	बंगाल	१२०७००

श्रेणी का नाम	क्रम सं०	जाति का नाम	उसका प्रदेश	जन संख्या
	४०७	सन्ताल	बंगाल, बिहार	१६०,७६००
	४०८	माहिलो	बंगाल, बिहार	६६८००
	४०९	ब्रिजिया	बंगाल, बिहार	५७००
	४१०	जुआंग	उड़ीसा	१०२००
	४११	ओराँय	बिहार-बंगाल	६१,४५००
	४१२	माले	बिहार, बंगाल	४८३००
	४१३	मल पहाड़ियां	बिहार, बंगाल	३५,०००
	४१४	गोह	मध्य प्रान्त	२२,८६६००
	४१५	मभयार	गंगा की घाटी	५,२४००
	४१६	बोसना-भाषा	दक्षिण मध्यभारत	५,०१००
	४१७	हलवा	द० पू० म० भारत	६,०१,००
	४१८	पधारी	मध्य प्रान्त	२६,००
	४१९	प्रधान	मध्य प्रान्त	२,२६,००
	४२०	कोयी	मध्य प्रान्त	१,१५,२००
	४२१	कड	पूर्वोत्तर मद्रास	६,१२,५००
	४२२	काडु-ओरा	पूर्वोत्तर मद्रास	८,८७,००
	४२३	पोरोजा	पूर्वोत्तर मद्रास	६,१६,००
	४२४		पूर्वोत्तर मद्रास	४,१३,००
	४२५	जातपु	पूर्वोत्तर मद्रास	७,५७,००
	४२६	मवर (शयर)	द० उड़ीसा	३६,७४,००
पश्चिमी कटिबंध की	४२७	कोरकू-कोर्वा	ब्रार-मध्यप्रान्त	१,८१,८००
पहाड़ी जातियां	४२८	भील	पश्चिम कटिबंध	१,१६,८८,००
	४२९	भिलाला	पश्चिम कटिबंध	१,४४,४००
	४३०	थान्का	पश्चिम कटिबंध	६६,१००
	४३१	तड्बो	पश्चिम कटिबंध	१,०५,००
	४३२	निहाल	पश्चिम	६६,००

श्रेणी का नाम	क्रमसंख्या	जातिका नाम	उसका प्रदेश	जनसंख्या	
	४३३	गामता	पश्चिम	४६३००	
	४३४	पटेलिया	पश्चिम	६१०००	
	४३५	नाहकडा	पश्चिम	६०२००	
	४३६	नायक	पश्चिम	२५१००	
	४३७	छोद्रा	पश्चिम	५८२००	
सहाद्रि की जातियाँ	४३८	काट्करी	सहाद्रि	६३०००	
	४३९	शर्ली	सहाद्रि	१५२३००	
	४४०	घाट ठाकुर	सहाद्रि	१२२३००	
नीलगिरि की जातियाँ	४४१	कुदमान	नीलगिरि	१०६००	
	४४२	ईसल	नीलगिरि	८६१००	
	४४३	तोड	नीलगिरि	८००	
	४४४	कोटा	नीलगिरि	१३००	
	४४५	भानिकन	नीलगिरि	४१००	
	४४६	मलयन	नीलगिरि	११२००	
	४४७	यानादि	नीलगिरि	१०३६००	
	४४८	चेम्बु	नीलगिरि	८३००	
आसामकी पहाड़ी जातियाँ	४४९	बादो	}	आसाम	२४२६००
	४५०	कचारी			
	४५१	गारो	आसाम	१६२२००	
	४५२	सालंग	आसाम	३५५००	
	४५३	रामा	आसाम	६७३००	
	४५४	हाजंग	आसाम	८८२००	
	४५५	टिपरा-संग	आसाम	१११३००	
	४५६	चूतिया	आसाम	८५८००	
	४५७	मीरी	आसाम	४६७००	
	४५८	आबोर	आसाम	३२०	

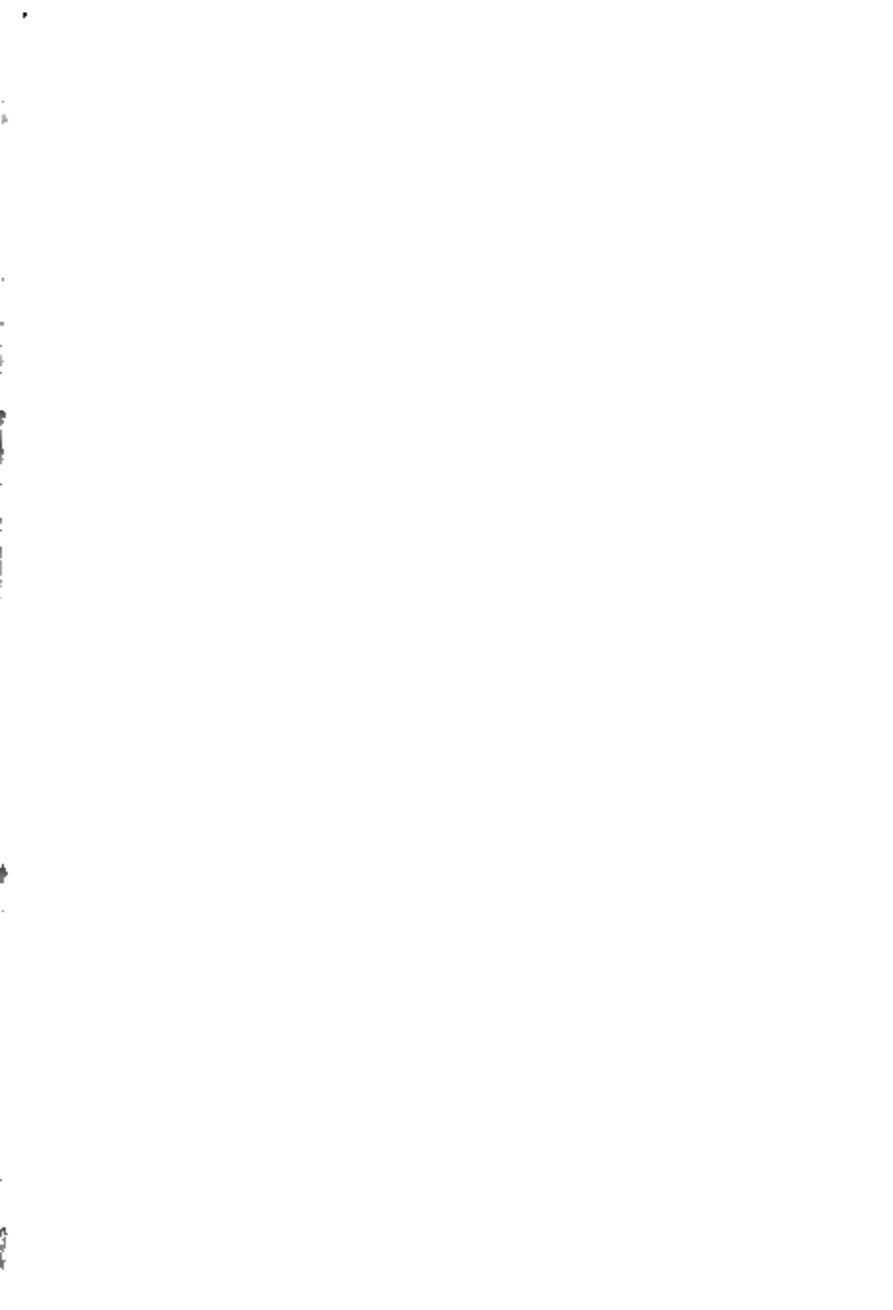
श्रेणी का नाम	क्रमसंख्या	जाति का नाम	उसका प्रदेश	जनसंख्या
	४५६	जाफला	आसाम	६५०
	४६०	आक	आसाम	२८
	४६१	खासी	आसाम	११,१६००
	४६२	सेइटेग	आसाम	१७६००
	४६३	मिक्किर	आसाम	८७३००
	४६४	नाग (माथारवा)	आसाम	७८६००
	४६५	अंगामी-तैसिमा	आसाम	२७५००
	४६६	आओ	आसाम	२६८००
	४६७	मेमा-सिमा	आसाम	१०००
	४६८	लहीटा	आसाम	१६,३००
	४६९	रंगमा	आसाम	५६००
	४७०	कूकी	आसाम	६७०००
	४७१	मैथई	आसाम	६६४००
	४७२	लुमेई	आसाम	६३६००
	४७३	शान	आसाम	१८५०
	४७४	खामटी	आसाम	२०००
	४७५	फकिर्याल	आसाम	२००
	४७६	नोय	आसाम	१४०
	४७७	तुरंग	आसाम	४००
	४७८	अइतोन	आसाम	८०
	४७९	आहोम	आसाम	१७८०००
	४८०	सिंगरु	आसाम	८००
	४८१	दाओनिया	आसाम	१०००
हिमालय की पहाड़ी	४८२	खंडू	नेपाल	४६५००
	४८३	बाख	नेपाल	२४००
	४८४	लिंबू	नेपाल	२४६००



श्रेणीका नाम	क्रम सं०	जातिका नाम	उत्सका प्रदेश	जन संख्या
	४८५	लेप्चा-रौंग	सिक्किम	१८०००
	४८६	मुर्मी	नेपाल	३३६००
	४८७	नेवार	नेपाल	११५००
	४८८	लस	नेपाल	१५६००
	४८९	गुरु ग	नेपाल	२३६००
	४९०	संगर	नेपाल	१६६००
	४९१	सुनुवार	नेपाल	६६००
	४९२	गोर्खा (साधा०)	नेपाल	१८८००



CAT. 100000

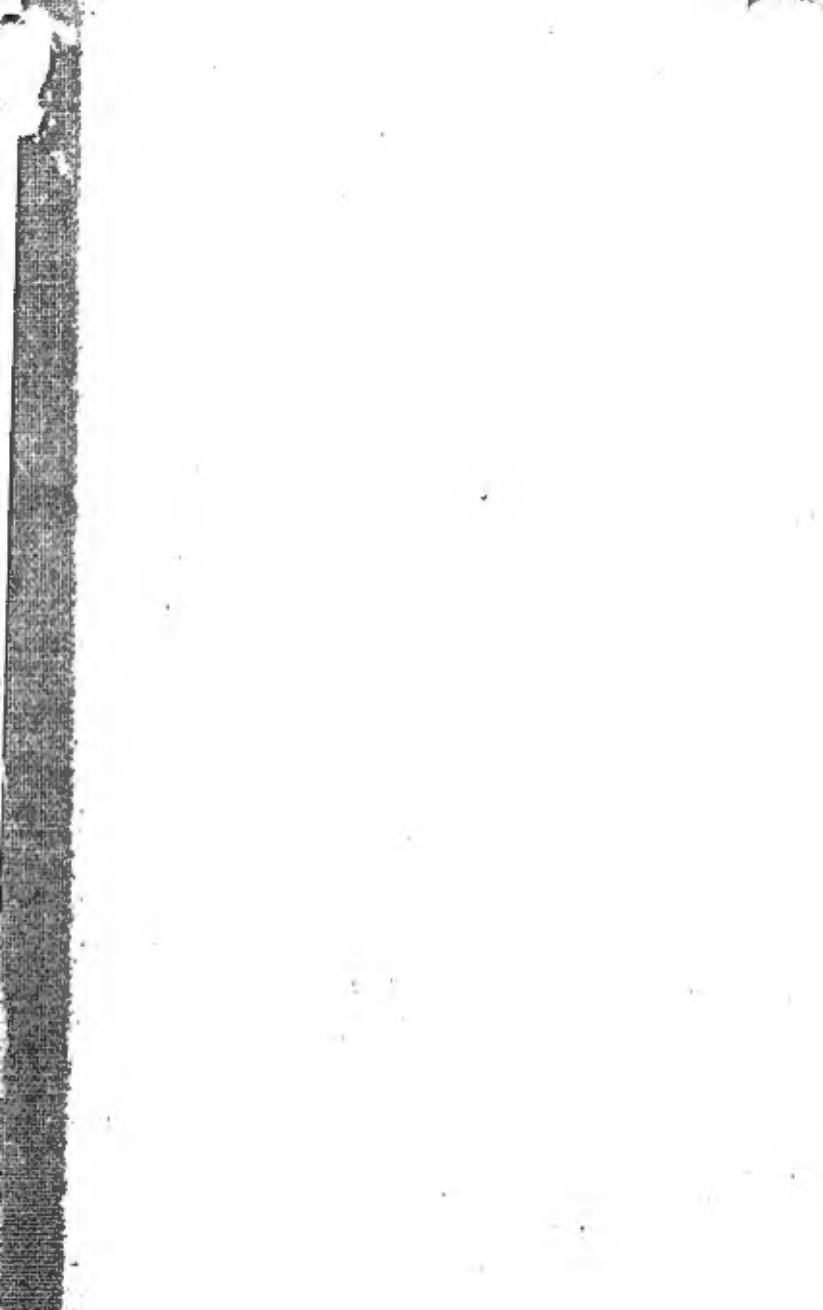


૨૨૮

શ્રેણિકા

૦૨

૪૦૫૨  
Hindu Religion  
T  
✓



CATALOGUED.

CENTRAL ARCHAEOLOGICAL LIBRARY,  
NEW DELHI

Catalogue No.

891.431/Dvi-9594

Author—Drivedi, Hazari Prasad.

Title— Madhyakālīna Dharma-Sādhanā.

Borrower No.	Date of Issue	Date of Return
Shri S. K. K. Bhattach. 16-12-58		3.2.59.
Shri S. K. K. Bhattach. 11.12.58	29/4/59	21/3/59

"A book that is shut is but a block"

CENTRAL ARCHAEOLOGICAL LIBRARY  
GOVT. OF INDIA  
Department of Archaeology  
NEW DELHI

Please help us to keep the book  
clean and moving.